

23



सिरि-भगवंत-पुष्पवंत-भूदबलि-पणीवे

छक्खंडागमे

जीवदूठाणं

तस्स

सिरि-वीरसेणाइरिय-विरइया टीका

धवला

सिद्धमणंतर्माणदियमणुवममप्पत्थ-सोक्खमणवज्जं ।

केवल-पहोह-णिज्जिय-इण्णय-तिमिरं जिणं जमह ॥ १ ॥

जो सिद्ध हैं, अनन्तस्वरूप हैं, अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं, आत्मत्व सुखको प्राप्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, और जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभापुंजसे कुनवरूप अन्धकारको जीत लिया है, ऐसे जिन भगवान्को नमस्कार करो । अथवा, जो अनन्त-स्वरूप हैं, अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं, आत्मत्व सुखको प्राप्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे कुनवरूप अन्धकारको जीत लिया है, और जो समस्तकर्म-सत्रुओंके जीतनेसे 'जिन' संज्ञाको प्राप्त हैं, ऐसे सिद्ध परमात्माको नमस्कार करो ।

विशेषार्थ— ग्रंथ प्रारंभ 'सिद्ध' इस पदसे करनेका प्रयोजन यह सूचित होता है कि प्रारंभमें सकार का प्रयोग सुखदायक माना जाता है। 'सहो सुखदाहदो' (अलंकार चिंतामणि १।४९) सकार सुखदायक होता है, तथा हकार दुःखदायक होता है।

'सिद्ध' शब्दका अर्थ कृतकृत्य होता है, अर्थात्, जिन्होंने अपने करने योग्य सब कार्योंको कर लिया है, जिन्होंने अनाविकालसे बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मोंको प्रचण्ड ध्यानरूप अग्निके द्वारा भस्म कर दिया है, ऐसे कर्म-प्रपंच-मुक्त जीवोंको सिद्ध कहते हैं। अरहंत परमेष्ठी भी चार घातिया कर्मोंका नाश कर चुके हैं, इसलिये वे भी घातिकर्म-क्षय सिद्ध हैं। इस विशेषणसे जो अनादि कालसे ही ईश्वरको कर्मोंसे अस्पृष्ट मानते हैं, ऐसे सदाशिव और सांख्य मतका निराकरण हो जाता है।

अथवा 'षिधु' धातु गमनार्थक भी है, जिससे सिद्ध शब्दका यह अर्थ होता है, कि जो शिव-लोकमें पहुंच चुके हैं, और वहांसे लौट कर कभी नहीं आते। इस कथनसे मुक्त जीवोंके पुनरागमनकी मान्यता का निराकारण हो जाता है।

अथवा 'षिधु' धातु 'संराधन' के अर्थमें भी आती है, जिससे यह अर्थ निकलता है, कि जिन्होंने आत्मीय गुणोंको प्राप्त कर लिया है, अर्थात्, जिनकी आत्मामें अपने स्वाभाविक अनन्त गुणोंका विकाश हो गया है। इस व्याख्यासे जो मानते हैं कि, 'जिसप्रकार दीपक बुझ जाने पर, न वह पृथ्वीकी ओर नीचे जाता है, न आकाशकी ओर ऊपर जाता है, न किसी दिशाकी ओर जाता है और न किसी विदिशाकी ओर जाता है किंतु तेलके क्षय हो जानेसे केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है, उसीप्रकार, मुक्तिको प्राप्त होता हुआ जीव भी न नीचे भूतलकी ओर, न ऊपर नभस्तलकी ओर, न किसी दिशाकी ओर, और न किसी विदिशाकी ओर ही जाता है। किंतु स्नेह अर्थात् रागपारिणतिके नष्ट हो जानेपर, केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है' * उस बौद्धमतका निरसन हो जाता है।

अनन्त— जिसका अन्त अर्थात् विनाश नहीं है उसे अनन्त कहते हैं। अथवा 'अन्त' शब्द सीमा-वाचक भी है, इसलिए जिसकी सीमा न हो उसे भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त

१ आदौ सकार-प्रयोगः सुखदः । तथा च 'सहो सुखदाहदो' । अलं. चि. १, ४९. 'माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रोपस्य मङ्गलार्थं सिद्ध-शब्दं आदितः प्रयुङ्क्ते' पात. मह. भा. पृ. ५७. सितं वद्धमष्ट-प्रकारं कर्मन्धनं ध्मातं दग्धं जाज्वल्यमान-शुक्लध्यानानलेन यैस्ते सिद्धाः । अथवा, 'षिधु गतो' इति वचनात् सेधन्ति स्म अपुनरावृत्त्या निर्वृतिपुरीमगच्छन् । अथवा, 'षिधु संराद्धो' इति वचनात् सेधन्ति सिद्धयन्ति स्म निष्ठितार्था भवन्ति स्म । अथवा, 'षिधून् शास्त्रे माङ्गल्ये च' इति वचनात् सेधन्ति स्म शासितारोऽभूवन् माङ्गल्यरूपतां चानुभवन्ति स्म इति सिद्धाः । अथवा, सिद्धाः नित्याः अपर्यवसान-स्थितिकत्वात् । प्रख्याता वा भव्यैः षडलक्षगुणसंदोहत्वात् । आह च, -

ध्मातं सितं येन पुराणकर्म यो वा गतो निर्वृति-सोष-मूर्ध्नि ।

ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमङ्गलो मे ॥ भग. सू. १, १, १, (टीका) ।

* धवला, अ. पृ. ४७४.

२ नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः निरन्वयविनाशेनाविनश्यमानः । नास्यान्तः सीमास्त्यनन्तः केवलात्मनोऽनन्तत्वात् । अनन्तार्थ-विषयत्वाद्वाऽनन्तः अनन्तार्थ-विषय-ज्ञान-स्वरूपत्वात् । अनन्त-कर्मशांश-जयनादनन्तः । अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनन्तः । अभिः रा. कोष.

पदार्थोंको जाननेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त कर्मोंके अंशोंको जीतनेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्तज्ञानादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण भी अनन्त कहते हैं।

अनिन्द्रिय— जिसके इन्द्रियां न हो, उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियां अर्थात् भावेन्द्रियां छद्मस्थ दशामें पाई जाती हैं, परंतु सिद्ध और अरहंत परमात्मा छद्मस्थ दशाको उल्लंघन करके केवलज्ञानसे विभूषित हैं, इसलिये वे अनिन्द्रिय हैं। भावेन्द्रियोंकी तरह इन दोनों परमात्माओंके भाव-मन भी नहीं पाया जाता है, क्योंकि तेरहवें गुणस्थानमें क्षायोपशमिक ज्ञानोंका अभाव है। अथवा, 'अणिन्द्रिय' पद अतीन्द्रिय के अर्थमें भी आता है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि वे हमारे इन्द्रिय-जन्य ज्ञानसे नहीं जाने जा सकते हैं, अर्थात् वे दोनों परमात्मा इन्द्रियोंके अगोचर हैं। 'अणिन्द्रिय' पदका अर्थ अनिन्द्रित भी होता है, जिसका यह तात्पर्य है कि सिद्ध और अरहंत परमेष्ठी निर्दोष होनेके कारण सबके द्वारा अनिन्द्रित हैं, निन्दा उसकी की जाती है जिसमें किसी प्रकारके दोष पाये जावें, जिसका आचरण दूसरोंके लिये आहितकर हो। परंतु उक्त दोनों परमेष्ठी कामादि दोषोंसे रहित होनेके कारण उनके स्वरूपको जाननेवाला कोई भी उनकी निन्दा नहीं कर सकता है, इसलिये वे अनिन्द्रित हैं।

अनुपम— प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। उनके स्वरूप-निर्णयके लिये हम जो कुछ भी दृष्टान्त देकर, शब्दोंद्वारा, उसे मापनेका प्रयास करते हैं, उस मापनेको उपमा कहते हैं। 'उप' अर्थात् उपचारसे जो 'मा' माप करे वह उपमा है। उपचारसे मापनेका भाव यह है कि एक वस्तुके गुण-धर्म किसी दूसरी वस्तुमें तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिये आकार, दीप्ति, स्वभाव आदि धर्मोंमें थोड़ी बहुत समानता होने पर भी किसी एक वस्तुके द्वारा दूसरी वस्तुका ठीक कथन तो नहीं हो सकता है, फिर भी दृष्टान्तद्वारा दूसरी वस्तुका कुछ न कुछ अनुभव या परिज्ञान अवश्य हो जाता है। इसलिये इस प्रक्रियाको उपमामें लिया जाता है। परंतु यह प्रक्रिया उन्हीं पदार्थोंमें घटित हो सकती है जो इन्द्रियगोचर हैं। सिद्धपरमेष्ठी तो अतीन्द्रिय है। अरहंत परमेष्ठीका शरीर इन्द्रियगोचर होते हुए भी उनकी पुनीत आत्माका हम संसारी जन इन्द्रियज्ञानके द्वारा साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। इसलिये उपमाद्वारा उनका परिज्ञान होना असंभव है। उन्हें यदि कोई भी समुचित उपमा दी जा सकती है, तो उन्हींकी दी जा सकती है जो कि सर्वथा छद्मस्थ ज्ञानियोंके अप्रत्यक्ष हैं। अतः सिद्ध और अरहंत परमात्माको अनुपम अर्थात् उपमा रहित कहना सर्वथा युक्ति-युक्त है। 'उप' का अर्थ पास भी होता है, अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ, जिसके लिये उसकी उपमा दी जाती हो, पासका अर्थात् उसका ठीक तरहसे बोध करानेवाला, होना चाहिये। परंतु संसारमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जिसके द्वारा हम सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीके स्वरूपकी तुलना कर सकें। अतएव वे अनुपम हैं।

१ 'न य विज्जइ तग्गहणे लिंगं वि अणिन्द्रियत्तणओ'। पा. स. म. कोष अणिन्द्रिअ।

२ लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते । उपमीयेत तद्येन तस्मान्निश्चयमं स्मृतम् ।

आत्मस्थसुख - सुख जीवका सहजसिद्ध स्वाभाविक गुण होनेसे आत्मामें सदैव विद्यमान है। कर्मोंके अभावमें वह स्वाभाविक गुण प्रगट होता है। इसलिये भगवान परमात्मा आत्मस्थ सुखस्वरूप है। इंद्रियजन्य सुख-दुःख आत्माके सुखगुणकी ही विभाव पर्याय है। कर्मोपाधि नष्ट होनेपर वह आत्मस्थ सुखगुण आत्मासेही उत्पन्न (प्रगट) होता है।

जिस आत्मस्थगुणके द्वारा आत्मा, शान्ति संतोष या आनन्दका चिरकालतक अनुभव करे उसे सुख कहते हैं। संसारी जीव कोमल स्पर्शमें, विविध-रस-परिपूर्ण उत्तम सुखादु भोजनके स्वादमें, वायुमण्डलको सुरभित करनेवाले नानाप्रकारके पुष्प, इत्र, तैल आदि सुगन्धित पदार्थोंके सूघनेमें, रमणीय रूपोंके अवलोकनमें, श्रवण-सुख-कर संगीतोंके सुननेमें और चित्तमें प्रमोद उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके विषयोंके चिन्तनमें आनन्दका अनुभवसा करता है, और उससे अपनेको सुखी भी मानता है। पर यथार्थमें देखा जाय तो इसे 'सुख' नहीं कह सकते हैं। सुख जिसे कहना चाहिये वह तो आकुलताके अभावमें ही उपलब्ध हो सकता है। परंतु इन सब विषयोंके ग्रहण करनेमें आकुलता देखी जाती है, क्योंकि प्रथम तो इन्द्रिय-सुखकी कारणभूत सामग्रीका उपलब्ध होना ही अशक्य है, इसलिये आकुलता होती है। देववशात् उक्त सामग्री यदि मिल भी जाय तो उसे चिरस्थायी बनानेके लिये और उसे अपने अनुकूल परिणमानेके लिये चिन्ता करनी पड़ती है। इतना सब कुछ करने पर भी उस सामग्रीसे उत्पन्न हुआ सुख चिरस्थायी ही रहेगा, यह कुछ कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि संसारमें न किसीका सुख चिरस्थायी रहा है और न कोई प्राणी ही। फिर इस सुखमें रोग, शोक, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि निमित्तोंसे सदा ही संकडों बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं, जिससे वह सुखद सामग्री ही दुखकर हो जाती है। यदि इतनेसे ही बस होता, तो भी ठीक था। पर वह सुख पापका बीज है, क्योंकि संसारमें सुखकी सामग्री परिमित है और उसके ग्राहक अर्थात् उसके अभिलाषी असंख्य हैं। अतः जो भी व्यक्ति सुखकी आवश्यकतासे अधिक सामग्री एकत्रित करता है, यथार्थतः देखा जाय तो, वह दूसरोंके न्याय-प्राप्त अंशको छीनता है। इसलिये यह सुख पापका बीज है। फिर यह सुख आरम्भविधि निमित्तोंसे अनेकों जीवोंकी हिंसा करनेके बाद ही तो उपलब्ध होता है, अतः कर्मबन्धका कारण भी है। अतः यह इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख, सुख न होकर यथार्थमें दुख ही है। किंतु जो आनन्द, जो शान्ति स्वाधीन है, अर्थात्, बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा न करके केवल आत्मासे उत्पन्न होती है, बाधा-रहित है, अविच्छिन्न एक धारासे प्रवाहित हो कर सदाकाल स्थायी है, नवीन कर्मबन्ध करानेवाली भी नहीं है, दूसरोंके अधिकार नहीं छीननेसे पापका बीज भी नहीं है, उसे ही सच्चा सुख कहा जा सकता है। सो ऐसा आत्मस्थ, अनन्त सुख सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीके ही संभव है। अतः उक्त विशेषण देना सार्थक एवं समुचित ही है।

१ अस्ययमाद-समुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं। अद्वुच्छिण्णं च सुहं सुदुवओगप्पसिद्धाणं॥ प्रवच. १, १३. स-परं बाधा-सहियं विच्छिण्णं बंध-कारणं विसमं। जं इदिएहिं लद्धं तं सोवखं दुक्खमेव तथा॥ प्रवच १, ७६. कर्म-पर-वशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पाप-बीजे सुखेज्जास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता॥ रत्नक. १, १२.

अनवद्य— अवद्य, पाप या दोषको कहते हैं। गुणस्थानक्रमसे आत्माके क्रमिक-विकाशको देखते हुये यह भलीभांति समझमें आ जाता है कि ज्यों ज्यों आत्मा विशुद्धि-मार्गपर अग्रसर होता जाता है, त्यों त्यों उसमेंसे मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, मत्सर, लोभ, तृष्णा आदि विकार-परिणति अपने आप मन्द या क्षीण होती हुई चली जाती हैं। यहां तक कि एक वह समय आ जाता है जब वह उन समस्त विकारोंसे रहित हो जाता है। इसी अवस्थाको मंगलकारने अनवद्य या निर्दोष शब्दसे प्रगट किया है।

केवलप्रभौघनिर्जितदुर्नयतिमिर— अन्य दृष्टिभेदोंकी अपेक्षा-रहित केवल एक दृष्टि-भेदको ही दुर्नय कहते हैं। इससे पदार्थका बोध तो होता है, परन्तु वह बोध केवल पक्षप्राही रहता है। इससे प्राणीमात्र किसी पदार्थकी समीचीनताका अनुभव नहीं कर सकते हैं। इसलिये इसके द्वारा पदार्थको जानते हुए भी उसके विषयमें जाननेवाले अन्धे ही बने रहते हैं, क्योंकि इस दृष्टि-भेदसे पदार्थ जितने अंशमें प्रतिभासित होता है, पदार्थ केवल उतना ही नहीं है, वह तो उसकी केवल एक अवस्था ही है। पदार्थ तो उस जाने हुए अंशसे और भी कुछ है। और वह दृष्टि-भेद पदार्थके उन अंशोंकी अपेक्षा ही नहीं करता है, बल्कि अपने द्वारा ग्रहण किये हुए अंशको ही उस पदार्थकी समग्रता समझ लेता है। अतएव वह दृष्टि-भेद पदार्थका प्रकाशक होते हुए भी अन्धकारके समान है। मंगलकारने इसी दृष्टिको सामने रखकर अन्य दृष्टिभेदोंकी अपेक्षा-रहित एक दृष्टि-भेदको 'दुर्नय-तिमिर' संज्ञा दी है। इसे सिद्ध और अरिहंत परमेष्ठीने अपने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे जीत लिया है। क्योंकि केवलज्ञानरूप सूर्यमें ऐसा एक भी सम्यक् दृष्टि-भेद नहीं है, जिसका समन्वय नहीं होता है, अर्थात्, उसमें सभी सम्यक् दृष्टिभेदोंका समन्वय हो जाता है। अतएव वह पदार्थका पूर्ण प्रकाशक है। सूर्यके उदित होने पर जिसप्रकार अन्धकार विलीन हो जाता है, उसीप्रकार केवलज्ञानरूपी सूर्यके प्रभा-पुंजके सामने वे सर्वथा एकान्त दृष्टियाँ नहीं ठहर सकती हैं। अतएव केवलज्ञान-विभूषित सिद्ध और अरिहंत परमेष्ठीको 'केवलप्रभौघनिर्जितदुर्नयतिमिर' यह विशेषण देना युक्तियुक्त ही है।

जिन— मोह या मिथ्यात्व आत्माका सबसे अधिक अहित करनेवाला है। इसके वशमें होकर ही यह जीव अनादि-कालसे आत्म-स्वरूपको भूला हुआ संसारमें भटक रहा है। जब इस जीवको उपदेशादिकका निमित्त मिलता है और उससे 'स्व' क्या है, 'पर' क्या है, 'हित' क्या है, 'अहित' क्या है, इसका बोध करके आत्म-कल्याणकी ओर इसकी प्रवृत्ति

१. जह एए तह अन्ने पत्तेयं दुण्णया णया सञ्चे । स. त. १, १५. निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृतं । आ. मी. १०८. तदनेकान्त-प्रतिपत्तिः प्रमाणम् । एक-धर्म-प्रतिपत्तिर्नयः । तत्प्रत्यनीक-प्रतिक्षेपो दुर्णयः । केवल-विपक्ष-विरोध-दर्शनेन स्व-पक्षाभिनिवेशात् । अष्टश. का. १०६. अर्थस्थानेकरूपस्य धीःप्रमाणं तदंशधीः, नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः ॥ अष्टस. पृ. ९०.

२. सकलात्म-प्रदेश-निविड-निबद्ध-धाति-कर्म-मेघ-पटल-विघटन-प्रकटीभूतानन्त-ज्ञानादि-नव-केवल-लब्धित्वात् । जिनः । गो. जी., जी. प्र. टी., गा. १. अनेक-विषम-भव-गहन-दुःख-प्रापण-हेतून् कर्मारतीन् जयन्ति निर्जरयन्तीति जिनाः । गो. जी., मं. प्र. टी., गा. १.

बारह-अंगगिग्गज्ञा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया ।

विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइरं ॥ २ ॥

सयल-गण-पउम-रविणो विविहिद्वि-विराइया वि णिस्संगा ।

णीराया वि कुराया गणहर-देवा पसीयंतु ॥ ३ ॥

होने लगती है; परिणामोंमें इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है, कि वह केवल अपने स्वार्थकी पुष्टिके लिये दूसरोंके न्याय-प्राप्त अधिकारोंको छीननेसे ग्लानि करने लगता है; उसके पहिले बांधे हुए कर्म हलके होने लगते हैं, तथा नवीन कर्मोंकी स्थिति भी कम पड़ने लगती है; सांसारिक कार्योंको करते हुए भी उनमें उसे स्वभावतः अरुचिका अनुभव होने लगता है; तब कही समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनके सन्मुख हो रहा है। फिर भी ऊपर जितने भी कारण बतलाये हैं, वे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके समर्थ कारण नहीं हैं। इनके होते हुए यदि मिथ्यात्व या मोहका उपशम करनेमें समर्थ ऐसे अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण-रूप परिणाम होते हैं तो समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनको पा सकता है, इनके बिना नहीं; क्योंकि इन परिणामोंमें ही मिथ्यात्वके नष्ट करनेका सामर्थ्य है। इसतरह जब यह जीव अधःकरणरूप परिणामोंको उल्लंघन करके अपूर्वकरणरूप परिणामोंको प्राप्त होता है, तब यह जिनत्वकी पहिली सीढ़ी पर है, ऐसा समझना चाहिये। यही से जो कर्मरूपी शत्रुओंको जीते उसे जिन कहते हैं, इस व्याख्याके अनुसार, जिनत्वका प्रारम्भ होता है। इसके आगे जैसे जैसे कर्म-शत्रुओंका अभाव होता जाता है वैसे वैसे जिनत्व धर्मका प्रादुर्भाव होता जाता है, और बारहवे गुणस्थानके अन्तमें जब यह जीव समस्त घातिया कर्मोंको नष्ट कर चुकता है तब पूर्णरूपसे 'जिन' संज्ञाको प्राप्त होता है, सिद्ध परमेष्ठी तो समस्त कर्मोंसे रहित है, इसलिये अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी कर्मशत्रुओंके जीतनेसे साक्षात् जिन हैं, ऐसा समझना चाहिये।

इसप्रकार शास्त्रारम्भमें अनन्त आदि विशेषणोंसे युक्त अरहंत और सिद्ध दोनों परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है ॥ १ ॥

जो श्रुतज्ञानके प्रसिद्ध बारह अंगोंसे ग्रहण करने योग्य है, अर्थात् बारह अंगोंका समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्व प्रकारके मल (अतीचार) और तीन मूढताओंसे रहित सम्यग्दर्शन-रूप उन्नत तिलकसे विराजमान है और नाना-प्रकारके निर्मल चारित्र ही जिसके आभूषण हैं, ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रही ॥ २ ॥

जो सर्व प्रकारके गण, मुनिगण अर्थात् ऋषि, यति, मुनि और अनगार, इन चार प्रकारके संघरूपी कमलोंके लिये; अथवा, मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन चार प्रकारके संघरूपी कमलोंके लिये सूर्यके समान हैं, जो बल, बुद्धि इत्यादि नाना प्रकारकी ऋद्धियोंसे विराजमान होने पर भी अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहसे रहित हैं और जो वीतरागी होने पर भी समस्त भूमण्डलके हितैषी हैं, ऐसे गणधर देव प्रसन्न होवे ॥ ३ ॥

पसियउ महु धरसेणो पर-वाइ-गयोह-दाण-वर-सीहो ।

सिद्धंतामिय-सायर-तरंग-संघाय-धोय-मणो ॥ ४ ॥

पणमामि पुप्फदंतं दुकयंतं दुण्णयंधयार-रवि ।

भग्ग-सिव-मग्ग-कंटयमिसि-समिइ-वइं सया दंतं ॥ ५ ॥

पणमह कय-भूय-बलिं भूयबलिं केस-वास-परिभूय-वलिं ।

विणिहय-वम्मह-पसरं वड्ढाविय-विमल-णाण-वम्मह-पसरं ॥ ६ ॥

विशेषार्थ— इस मंगलरूप गाथामें ' विविहिद्धिविराइया वि णिस्संगा ' तथा ' णीराया वि कुराया ' इन दो पदोंमें विरोधाभास अलंकार है । जो नाना प्रकारकी ऋद्धियोंसे विराजमान हैं वे संग अर्थात् परिग्रहरहित कैसा हो सकते हैं । उसी प्रकार जो नीराग अर्थात् बीतराग है उनके कुत्सित अर्थात् खोटा राग कैसे हो सकता है ? इस विरोधका परिहार इस प्रकार कर लेना चाहिए कि गणधरदेव ' विविहिद्धिविराइया वि ' अर्थात् बल, बुद्धि आदि नाना प्रकारकी ऋद्धियोंसे युक्त होने पर भी ' णिस्संगा ' अर्थात् सब प्रकारके अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे तथा ऋद्धियोंके उपयोगसे रहित होते हैं । उसी प्रकार वे ' णीराया वि ' अर्थात् बीतराग होने पर भी ' कुराया ' अर्थात् भूमण्डलमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंके हितैषी होते हैं । अथवा, बीतराग होने पर भी अभी पृथ्वीमण्डलपर विराजमान है, मोक्षको नहीं गये हैं ॥ ३ ॥

जो परबादीरूपी हाथियोंके मदकी आकांक्षा करने वाले श्रेष्ठ सिंहके समान हैं, अर्थात् जिसप्रकार सिंहके सामने मदोन्मत्त भी हाथी नहीं ठहर सकता है, किंतु वह गलितमद होकर भाग खडा होता है, उसीप्रकार जिनके सामने अन्य-मतावलम्बी अपने आप गलितमद हो जाते हैं, और सिद्धान्तषपी अमृत-सागरकी तरंगोंके समूहसे जिनका मन धुल गया है, अर्थात्, सिद्धान्तके अवगाहनसे जिन्होंने विवेकको प्राप्त कर लिया है, ऐसे श्री धरसेन आचार्य मुझ पर प्रसन्न हो ॥ ४ ॥

जो दुष्कृत अर्थात् पापोंका अन्त करनेवाले हैं, जो कुनयरूपी अन्धकारके नाश करनेके लिये सूर्यके समान हैं, जिन्होंने मोक्षमार्गके कंटकोंको (मिथ्योपदेशादि प्रतिबन्धक कारणोंको) भग्न अर्थात् नष्ट कर दिया है, जो ऋषियोंकी समिति अर्थात् सभाके अधिपति हैं, और जो निरन्तर पंचेन्द्रियोंका दमन करनेवाले हैं, ऐसे पुण्यदन्त आचार्यको मैं (वीरसेन) प्रणाम करता हूं ॥ ५ ॥

जो भूत अर्थात् प्राणिमात्रसे पूजे गये हैं, अथवा भूत-नामक द्यन्तर-जातिके देवोंसे पूजे गये हैं, जिन्होंने अपने केशपाश अर्थात् संयत-सुन्दर बालोंसे बलि अर्थात् जरा आदिसे उत्पन्न होनेवाली शिथिलताको परिभूत अर्थात् तिरस्कृत कर दिया है, जिन्होंने कामदेवके प्रसारको नष्ट कर दिया है, और जिन्होंने निर्मल-ज्ञानके द्वारा ब्रह्मचर्यके प्रसारको बढ़ा लिया है, ऐसे भूतबलि नामक आचार्यको प्रणाम करो ॥ ६ ॥

मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं ।

वागरिय छ ष्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरिओ ॥ १ ॥

इदि णायमाइरिय-परंपरागयं मणेणावहारिय पुब्वाइरियायाराणुसरणं ति-रयण-हेऊ ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्हं सकारणाणं परूवणट्ठं सुत्तमाह-

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सब्ब-साहूणं ॥ १ ॥ इदि ।

विशेषार्थ— जिस समय भूतबलि आचार्यने अपने गुरु धरसेन आचार्यसे सिद्धान्त-ग्रन्थ पढ़कर समाप्त किया था उस समय भूत-नामक व्यन्तर देवोंने उनकी पूजा की थी । इसका उल्लेख धबलामें आगे स्वयं किया गया है ।

मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह अधिकारोंका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्य शास्त्रका व्याख्यान करे ।

विशेषार्थ— शास्त्रके प्रारम्भमें पहिले मंगलाचरण करना चाहिये । पीछे जिस निमित्तसे शास्त्रकी रचना हुई हो, उस निमित्तका वर्णन करना चाहिये । इसके बाद शास्त्र-प्रणयनके प्रत्यक्ष और परम्परा-हेतुका वर्णन करना चाहिये । अनन्तर शास्त्रका प्रमाण बताना चाहिये । फिर ग्रन्थका नाम और आम्नायक्रमसे उसके मूलकर्ता, उत्तरकर्ता और परंपरा-कर्ताओंका उल्लेख करना चाहिये । इसके बाद ग्रंथका व्याख्यान करना उचित है : ग्रंथरचनाका यह क्रम आचार्य परंपरासे चला आ रहा है, और इस ग्रंथमें भी इसी क्रमसे व्याख्यान किया गया है ॥ १ ॥

आचार्य परंपरासे आये हुए इस न्यायको मनमें धारण करके और पूर्वाचार्योंके आचार अर्थात् व्यवहार-परंपराका अनुसरण करना रत्नत्रयका कारण है, ऐसा समझकर पुष्पदन्त आचार्य सकारण मंगलादिक छहो अधिकारोंका व्याख्यान करनेके लिये मंगल-सूत्र कहते हैं -

अरिहंतोंको नमस्कार हो, सिद्धोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो, उपाध्यायोंको नमस्कार हो, और लोकमें सर्व साधुओंको नमस्कार हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ— यह मंगलसूत्र णमोकार मंत्रके नामसे प्रसिद्ध है । इसके अन्तिम भागमें जो ' लोए ' अर्थात् ' लोकमें ' और ' सब्ब ' अर्थात् ' सर्व ' पद आये हैं, उनका संबन्ध ' णमो अरिहंताणं ' आदि प्रत्येक नमस्कार वाक्यके साथ कर लेना चाहिये । इसका खुलासा आचार्यने स्वयं आगे चलकर किया है ॥

१ मंगल-कारण-हेतु सत्थं सपमाण-णाम-कत्तारा । पढमं चि य कहिदव्वा एसा आइरिय-परिभासा ॥

ति. प. १, ७.

गाथैषा पञ्चास्तिकाये जयसेनाचार्यकृतव्याख्यया सहोपलभ्यते । अनगारधर्माभूतेऽस्याः संस्कृतच्छाया दृश्यते ।

२. म. छण्णं ३. अ. ब. अरहंताणं ॥

कधमिदं सुत्तं मंगल-णिमित्त-हेउ-परिमाण-णाम-कत्ताराणं सकारणाणं परुवयं ?
ण, तालपलंब-सुत्तं व देसामासियत्तादो ।

शंका—यह सूत्र सकारण मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ताका प्ररूपण करता है यह कैसे संभव है ? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि इस सूत्रमे जब कि केवल मंगल अर्थात् इष्ट-देवताको नमस्कार किया गया है तब उससे निमित्त आदि अन्य पांच अधिकारोंका स्पष्टीकरण कैसे संभव है ?

समाधान— उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि यह मंगलसूत्र ' ताल-प्रलम्ब ' सूत्रके समान देशामशक होनेसे सकारण मंगलादि छहों अधिकारोंका प्ररूपण करता है ।

विशेषार्थ— जो सूत्र अधिकृत विषयोंके एकदेश कथनद्वारा समस्त विषयोंकी सूचना करे उसे देशामशक सूत्र कहते हैं । इसलिये ' तालप्रलम्बसूत्र ' के समान यह मंगलसूत्र भी देशामशक है । कल्पसूत्रके कल्प्याकल्प्य नामक प्रथम उद्देश्यके प्रथम सूत्रमें ' तालपलम्ब ' पद आता है, जिसका भाव यह है कि ताडवृक्षको आदि लेकर जितनी भी वनस्पतिकी जातियां हैं, उनके अभिन्न (विना तोड़े या काटे गये) और अपक्व या कच्चे अर्थात् सचित्त मूल, पत्र फल, पुष्प आदिका लेना साधुको योग्य नहीं है । इस सूत्रमें तो केवल ' तालपलम्ब ' पद ही दिया है, फिर भी उसे उपलक्षण मानकर समस्त वृक्ष-जाति और उसके पत्र पुष्पादिकोंका ग्रहण किया गया है । उसीप्रकार यह नमस्कारात्मक सूत्र भी देशामशक होनेसे मंगलके साथ अधिकृत निमित्त, हेतु, परिमाण और कर्ताका भी बोधक है ।

१ देशामशकस्य स्पष्टीकरणम्—

' जेणेदं सुत्तं देसामासियं, तेण उत्तासेसलक्खणाणि एदेण वत्ताणि ' । स. प्रती पृ. ४८६. ' एवं देसामासियसुत्तं कुदो ? एगदेसपदुप्पायणेण एत्थतणसयलत्थस्स सूचयत्तादो ' । स. प्रती पृ. ४६८. ' एवं देसामासियसुत्तं देसपदुप्पायणमुहेण सूचिदाणेयत्थादो ' । स. प्रती पृ. ५८९. ' एवं देसामासियसुत्तं, तेणेदेण आमासियत्थेण अणामासियत्थो उच्चदे ' । स. प्रती पृ. ५९५. देसामासियसुत्तं आचेलक्कं त्ति तं खु ठिदिकप्पे लुत्तोऽथवादिसदो, जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥ मूलारा ११२३

' देसामासिय ' इत्यादि स्थितिकल्पे वाच्ये तत्प्रथमतयोपदिष्टमाचेलक्यमिति सूत्रं देशामशकम् । बाह्यपरिग्रहकदेशस्य चेलस्य परामशकं बाह्यपरिग्रहणामुपलक्षणार्थमुपात्तम् । यथा ' तालपलंबं ण कप्पदि ' त्ति सूत्रे तालशब्दो वनस्पत्येकदेशस्य तरुविशेषस्य परामशको वनस्पतीनामुपलक्षणाय गृहीतः । तथा चोक्तं कल्पे, हरिदणोसधिगुच्छा गुम्मा वल्ली लदा य रुक्खा य । एवं वणप्फदीओ तालादेसेण आदिट्ठा ॥ तालेदि दलेदि त्ति य तलेव जादो त्ति उस्सिदो व त्ति । तालादिणो तरु त्ति य वणप्फदीणं हवदि णामं ॥ तालस्य प्रलम्बं तालप्रलम्बम् । प्रलम्बं च द्विविधं, मूलप्रलम्बं अग्रप्रलम्बं च । तत्र मूलप्रलम्बं भूम्यनुप्रवेशि कन्दमूलाङ्कुरादिकम्, ततोऽन्यदग्रप्रलम्बम्, अङ्कुरप्रवालपत्रपुष्पफलादिकम् । वनस्पतिकन्दादिकमनुभोक्तुं निर्ग्रन्थानामार्योणां च न युज्यते इति । यथा " तालपलंबं ण कप्पदि त्ति " इत्यत्र सूत्रेऽर्थस्तथा सकलोऽपि बाह्यः परिग्रहो मुमुक्षूणां ग्रहीतुं न युज्यते इत्याचेलक्केति सूत्रेऽर्थ इति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम् तद्देशामशकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् । लुप्तोऽथवादिशब्दोऽत्र तालप्रलम्बसूत्रवत् ॥ मूलारा. टी. आचेलक्कुहेसियसेज्जाहररायपिडिकदियम्मे वदजेट्ठ-पिडिककमणे मासं पञ्जो समणक्प्यो ॥ मूलारा. ४२१ अहवा एगग्गहणे गहणं तज्जातियाण सव्वेसि । तेणऽग्गपलंबेण तु सूइया सेसगपलंबा ॥ वृ. क. सू. ८५५.

तत्थ धाउ-णिकखेव-णय-एयत्थ-णिरुत्ति-अणियोग-द्वारेहि मंगलं परुविज्जदि । तत्थ धाऊ ' भू सत्तायां इच्चेवमाइओ सयलत्थ-वत्थाणं सद्दाणं मूल-कारणभूदो । तत्थ ' मगि ' इदि अणेण धाउणा णिप्पण्णो मंगल-सद्दो । धाउ-परुवणा किमट्टं कीरदे ? 'ण, अणवगय-धाउस्स सिस्सस्स अत्थावगमाणुववत्तीदो । उक्तं च—

शद्वात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥ २ ॥ इति ।

णिच्छये णिण्णाए खिवदि त्ति णिकखेवो^३ । सो वि छिव्विहो/णाम-ट्ठवणा-

उन उक्त मंगलादि छह अधिकारोंमें से पहले धातु, निक्षेप, नय, एकार्थं, निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा 'मंगल' का प्ररूपण किया जाता है । उनमें 'भू' धातु सत्ता अर्थमें है, इसको आदि लेकर, समस्त पदार्थोंकी अवस्थाके वाचक शब्दोंका जो मूल कारण है उसे धातु कहते हैं । उनमेंसे 'मगि' धातुसे मंगल शब्द^३ निष्पन्न हुआ है । अर्थात् 'मगि' धातुमें 'अलच्' प्रत्यय जोड़ देने पर मंगल शब्द बन जाता है ।

शंका— यहाँ धातुका निरूपण किसलिये किया जा रहा है? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि यह ग्रन्थ सिद्धान्त-विषयका प्ररूपक है, इसलिये इसमें धातुके कथनकी कोई आवश्यकता नहीं थी । इसका कथन तो व्याकरण-शास्त्रमें करना चाहिये ।

समाधान— ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शिष्य धातुसे अपरिचित है अर्थात् किस धातुसे कौन शब्द बना है इस बातको नहीं जानता है, उसे धातुके परिज्ञानके बिना विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है । और अर्थ-बोधके लिये विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान कराना आवश्यक है । इसलिये यहाँपर धातुका निरूपण किया गया है । कहा भी है —

शब्दसे पदकी प्रसिद्धि होती है, पदकी सिद्धिसे उसके अर्थका निर्णय होता है, अर्थ-निर्णयसे तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है, और तत्त्वज्ञानसे परम कल्याण होता है ॥ २ ॥

१ ' मडेगरलच् पा. उ. ५, ७०.

२ श्लोकोज्यं ' व्याकरणात्पदसिद्धिः ' इत्येतावन्मात्रपाठभेदेन सह प्रभाचन्द्रकृत-शाकटायनन्यास-सिद्ध-हैमादिव्याकरणग्रन्थेषूपलभ्यते ।

३ जुत्तीसु जुत्त मग्गे जं चउभेएण होइ खल ट्ठवणं । कज्जे सदि णामादिमु तं णिकखेवं हवे समए ॥ नयच. २६९ निक्खिप्पइ तेण तर्हि तओ व निक्खेवणं व निक्खेवो । नियओ वा निच्छओ वा खेवो नासो त्ति जं भणियं ॥ वि. भा. ९१२ निक्षेपणं शास्त्रादेर्नामस्थापनादिभेदैर्न्यसनं व्यवस्थापनं निक्षेपः । निक्षिप्यते नामादि-भेदैर्व्यवस्थाप्यतेऽनेनास्मादिति वा निक्षेपः । वि. भा. ९१२ म. टी

दव्व-खेत्त-काल-भाव-मंगलमिदि

उच्चारियमत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण ।

अत्थं णयति तच्चंतमिदि तदो ते णया भणियां ॥ ३ ॥

इदि वयणादो कय-णिक्खेवे दट्ठूण णयाणमवदारो भवदि । को णयो णाम ?

जो किसी एक निश्चय या निर्णयमें क्षेपण करता है, अर्थात् अनिर्णीत वस्तुका उसके नामादिकद्वारा निर्णय कराता है उसे निक्षेप कहते हैं। वह नाम, स्थापना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह प्रकारका, है, और उसके संबन्धसे मंगल भी छह प्रकारका हो जाता है, । नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल, क्षेत्रमंगल, कालमंगल, और भावमंगल ।

उच्चारण किये गये अर्थ-पद और उसमें किये गये निक्षेपको देखकर अर्थात् समझकर पदार्थको ठीक निर्णयतक पहुंचा देते हैं, इसलिये वे नय कहलाते हैं ॥ ३ ॥

विशेषार्थ— आगमके किसी श्लोक, गाथा, वाक्य अथवा पदके ऊपरसे अर्थ-निर्णय करनेके लिये पहले निर्दोष पद्धतिसे श्लोकादिकका उच्चारण करना चाहिये, तबनन्तर पदच्छेद करना चाहिये, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिये, अनन्तर पद-निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयोंका अवलंबन लेकर पदार्थका ऊहापोह करना चाहिये । तभी पदार्थके स्वरूपका निर्णय होता है । पदार्थ-निर्णयके इस क्रमको दृष्टिमें रखकर गाथाकारने अर्थ-पदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा, तत्त्व-निर्णयका उपदेश दिया है । गाथामें 'अत्थपदं' इस पदसे पद, पदच्छेद और उसका अर्थ ध्वनित किया गया है । जितने अक्षरोंसे वस्तुका बोध हो उतने अक्षरोंके समूहको 'अर्थ-पद' कहते हैं । 'णिक्खेवं' इस पदसे निक्षेप-विधिकी, और 'अत्थं णयति तच्चंतं' इत्यादि पदोंसे पदार्थ-निर्णयके लिये नयोंकी आवश्यकता बतलाई गई है ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त वचनके अनुसार पदार्थमें किये गये निक्षेपको देखकर नयोंका अवतार होता है ।

शंका— नय किसे कहते हैं ?

१ णामणिट्ठावणादो दव्वक्खेत्ताणि कालभावा य । इयं छव्वेयं भणियं मंगलमाणंदसजणणं ॥

ति. प. १, ८.

२ जेत्तिएहि अक्खरेहि अत्थोवलद्धी होदि तेसिमक्खराणं कलावो अत्थपदं णाम । जयध. अ. पृ. १२.

३ गाथेयं पाठभेदेन जयधवलायामप्युपलभ्यते । तद्यथा, उच्चारियम्मिदु पदे णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण ।

अत्थं णयति ते तच्चदो वि तम्हा णया भणिया । जयध. अ. पृ. ३० सुत्तं परं पयत्थो पय-निक्खेवो य निन्नय-प्रसिद्धी ।

वृ. क. सू. ३०९.

णयदि त्ति णयो भणिओ बहूहि गुण-पज्जएहि जं दव्वं^२ ।
 परिमाण-खेत्त-कालंतरेसु अविणट्ठ-सव्भावं ॥ ४ ॥
 तित्थयर-वयण संगह-विसेस-पत्थार-मूल वायरणी ।
 दव्वट्ठओ य पज्जय-णयो य सेसा वियप्पा सिं^३ ॥ ५ ॥
 दव्वट्ठय-णय-पयई सुद्धा संगह-परूवणा-विसयो ।
 पडिरूवं पुण वयणत्थ-णिच्छयो तस्स ववहरो ॥ ६ ॥

अनेक गुण और उनके अनेक पर्यायोंसहित, अथवा उनकेद्वारा, एक परिणामसे दूसरे परिणाममें एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अविनाशो-स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले जाता है, अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ— आगममें द्रव्यका लक्षण दो प्रकारसे बतलाया है, एक 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'

अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय पाये जाँय उसे द्रव्य कहते हैं । और दुसरा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' व 'सद् द्रव्यलक्षणम्' जो उत्पत्ति, विनाश और स्थिति-स्वभाव होता है वह सत् है, और सत् ही द्रव्यका लक्षण है । यहां पर नयकी निरुक्ति करते समय द्रव्यके इन दोनों लक्षणोंपर दृष्टि रक्खी गई प्रतीत होती है । नय किसी विवक्षित धर्मद्वारा ही द्रव्यका बोध कराता है । नयके इस लक्षणका संकेत भी 'गुणपज्जएहि' पदद्वारा हो जाता है । यह पद तृतीया विभक्ति सहित होनेसे उसे द्रव्यके लक्षणमें तथा निरुक्तिके साथ नयके लक्षणमें भी ले सकते हैं ॥ ४ ॥

तीर्थकरोके वचनोंके सामान्य प्रस्तारका मूल व्याख्यान करनेवाला द्रव्याधिक नय है और उन्हीं वचनोंके विशेष-प्रस्तारका मूल व्याख्याता पर्यायाधिक नय है । शेष सभी नय इन दोनों नयोंके विकल्प अर्थात् भेद हैं ॥ ५ ॥

विशेषार्थ— जिनेन्द्रदेवने दिव्यध्वनिके द्वारा जितना भी उपदेश दिया है, उसका, अभेद अर्थात् सामान्यकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला द्रव्याधिक नय है, और भेद अर्थात् पर्यायकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला पर्यायाधिक नय है । ये दोनों ही नय समस्त विचारों अथवा शास्त्रोंके आधारभूत हैं, इसलिये उन्हें यहां मूल व्याख्याता कहा है । शेष संप्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्द आदि इन दोनों नयोंके अवान्तर भेद हैं ॥ ५ ॥

संप्रह नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्याधिक नयकी शुद्ध प्रकृति है, और वस्तुके

१ " अनन्त-पर्यायात्मकस्य वस्तुनः अन्यतम-पर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्ययुक्त्यपेक्षो निरबद्ध-प्रयोगो नय इति अयं वाक्य-नयः तत्त्वार्थ-भाष्य-गतः । " जयव अ. पृ. २६ स्याद्वाद-प्रविभक्तार्थ-विशेष-व्यञ्जको नयः । आ. मो. १०६ वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वपणात्साध्य-विशेषस्य याश्चात्स्य-प्रापण-प्रवण-प्रयोगो नयः । म. सि. १, ३३ प्रमाण-प्रकाशितार्थ-विशेष-प्ररूपको नयः । त. रा. वा. १, ३३. प्रमाणेन वस्तु-संगृहीतार्थैकांशो नयः । श्रुत-विकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायी वा नयः । नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्त्य एकस्मिन् स्त्रभात्रे वस्तु नयति प्राप्नोति वा नयः । आ. प. १२१. जीवादीन् पदार्थान्नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलभयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयाः । स. त. सू. १, ३५ जं णाणीण वियपं सुअ-भेयं वथु-अंस-सगहणं । तं इह णयं पउत्तं, णाणी पुण तेहि णाणेहि ॥ न. च. १७४.

२ दव्वं सल्लक्खणियं उत्पाद-व्यय-धुवत्त-संजुत्तं । गुण-पज्जयासय वा जं तं भणंति सव्वण्हू ॥ पञ्चा. १० अपरिचत्त-सहावेणुत्पाद-व्ययधुवत्तसंजुत्तं । गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥ प्रवच. २, ३.

३ एनामारभ्य चत्तस्रो गथाः सिद्धसेन-दिवाकर-प्रणीत-पन्मतितकै प्रथमे काण्डे गथाङ्क ३, ४, ५, ११ इति क्रमेणोपलभ्यन्ते ।

मूल-णिमेण^१ पज्जव-णयस्स उज्जुसुद-वयण-विच्छेदो^२ ।
तस्स दु सदादीया साहुपसाहा^३ सुहुमभेया ॥ ७ ॥

प्रत्येक भेदके प्रति शब्दार्थका निश्चय करना उसका व्यवहार है। अर्थात् व्यवहार नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी अशुद्ध प्रकृति है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ— वस्तु सामान्य-विशेष-धर्मात्मक है। उनमेंसे सामान्य-धर्मको विषय करना द्रव्यार्थिक और विशेष-धर्मको (पर्यायको) विषय करना पर्यायार्थिक नय है। उनमेंसे संग्रह और व्यवहारके भेदसे द्रव्यार्थिक नय दो प्रकारका है। जो अभेदको विषय करता है उसे संग्रह नय कहते हैं। और जो भेदको विषय करता है उसे व्यवहार नय कहते हैं। ये दोनों ही द्रव्यार्थिक नयकी क्रमशः शुद्ध और अशुद्ध प्रकृति है। जब तक द्रव्यार्थिक नय घट, पट आदि विशेष भेद न करके द्रव्य सत्स्वरूप है इसप्रकार द्रव्यको अभेदरूपसे ग्रहण करता है तब तक वह उसकी शुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये। इसे ही संग्रह नय कहते हैं। तथा सत्स्वरूप जो द्रव्य है, उसके जीव और अजीव ये दो भेद हैं। जीवके संसारी और मुक्त इसतरह दो भेद हैं। अजीव भी पुण्डल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इसतरह पांच भेदरूप है। इसप्रकार उत्तरोत्तर प्रभेदोंकी अपेक्षा अभेदको स्पर्श करता हुआ भी जब वह भेदरूपसे वस्तुको ग्रहण करता है, तब वह उसकी अशुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये। इसीको व्यवहार नय कहते हैं। यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये कि वस्तुमें चाहे जितने भेद किये जायें, परंतु वे काल निमित्तक नहीं होना चाहिये, क्योंकि वस्तुमें काल निमित्तक भेदकी प्रधानतासे ही पर्यायार्थिक नयका अवतार होता है। द्रव्यार्थिक नयकी अशुद्ध प्रकृतिमें द्रव्यभेद अथवा सत्ताभेद ही इष्ट है, कालनिमित्तक भेद इष्ट नहीं है ॥ ६ ॥

ऋजुसूत्र वचनका विच्छेदरूप वर्तमान काल ही पर्यायार्थिक नयका मूल आधार है, और शब्दादिकनय शाखा-उपशाखारूप उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद हैं ॥ ७ ॥

विशेषार्थ— वर्तमान समयवर्ती पर्यायको विषय करना ऋजुसूत्र नय है। इसलिये जब तक द्रव्यगत भेदोंकी ही मुख्यता रहती है, तब तक व्यवहार नय चलता है, और जब कालनिमित्तक भेद प्रारम्भ हो जाता है, तभीसे ऋजुसूत्र नयका प्रारम्भ होता है। शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीन नयोंका विषय भी वर्तमान पर्यायमात्र है। परंतु उनमें ऋजुसूत्रके विषयभूत अर्थके वाचक शब्दोंकी मुख्यता से अर्थभेद इष्ट है, इसलिये उनका विषय ऋजुसूत्रसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर

१ 'णिमेणमवि ठाणे' देशी ना. ४, ३७.

२ ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो र्षां नयानां ते पर्यायार्थिकाः । विच्छिद्यतेऽस्मिन् काल इति विच्छेदः । ऋजुसूत्रवचनं नाम वर्तमानवचनं, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः । स कालो मूल आधारी षेष्वा नयानां ते पर्यायार्थिकाः । घ. पु. १, पृ. ८४.

३ मु साहुपसाहा ।

उपपज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जव-गयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥ ८ ॥

और सूक्ष्मतम माना गया है। अर्थात् ऋजुसूत्र के विषयमें लिग आदिसे भेद करनेवाला शब्दनय, शब्दनयसे स्वीकृत लिग, वचनवाले शब्दोंमें व्युत्पत्तिभेदसे अर्थभेद करनेवाला समभिरूढ नय, और पर्याय-शब्दको उस शब्दसे ध्वनित होनेवाले क्रियाकालमें ही वाचक माननेवाला एवंभूत नय समझना चाहिये। इसतरह ये शब्दादिक नय उस ऋजुसूत्र नयकी शाखा उपशाखा हैं, यह सिद्ध हो जाता है। अतएव ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिक नयका मूल आधार माना गया है ॥ ७ ॥

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि, प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं और पूर्व-पूर्व पर्यायोंका नाश होता है। किंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वे सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं। उनका न तो कभी उत्पाद होता है और न कभी नाश होता है, वे सदाकाल स्थितिस्वभाव रहते हैं ॥ ८ ॥

विशेषार्थ— उत्पाद दो प्रकारका माना गया है, उसीप्रकार व्यय भी। एक स्वनिमित्त और दूसरा परनिमित्त। इसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अगुहलघुगुणके अनन्त अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं। जो षड्गुणहानि और षड्गुणवृद्धीरूपसे निरन्तर प्रवर्तमान रहते हैं। इसलिये इनके आधारसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद और व्यय हुआ करता है। इसीको स्वनिमित्तोत्पाद-व्यय कहते हैं। उसीप्रकार पर निमित्तसे भी द्रव्यमें उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है। जैसे, स्वर्णकारने कडेसे कुण्डल बनाया। यहाँ पर स्वर्णकारके निमित्तसे कडेरूप सोनेकी पर्याय नष्ट होकर कुण्डलरूप पर्यायका उत्पाद हुआ है और इसमें स्वर्णकार निमित्त है, इसलिये इसे पर-निमित्त उत्पाद-व्यय समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार आकाशादि निष्क्रिय द्रव्योंमें भी स्वपर-निमित्त उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये। क्योंकि आकाशादि निष्क्रिय द्रव्य दूसरे पदार्थोंके अवगाहन, गति आदिमें कारण पडते हैं। और अवगाहन, गति आदिमें निरन्तर भेद दिखाई देता है। इसलिये अवगाहन, गति आदिके कारण भी भिन्न होने चाहिये। स्थित वस्तुके अवगाहनमें जो आकाश कारण है उससे भिन्न दूसरा ही आकाश क्रिया-परिणत वस्तुके अवगाहनमें कारण है। इसतरह अवगाह्यमान वस्तुके भेदसे आकाशमें भेद सिद्ध हो जाता है। और इसलिये आकाशमें पर-निमित्तसे भी उत्पाद-व्ययका व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार धर्मादिक द्रव्योंमें भी पर-निमित्तसे उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये। इसप्रकार यह सिद्ध हो गया कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ उत्पन्न भी होते हैं और नाशको भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अनन्त-कालसे अनन्त-पर्याय-परिणत होते रहने पर भी द्रव्यका कभी भी नाश नहीं होता है। और न एक द्रव्यके गुण-धर्म बदलकर कभी दूसरे द्रव्य-रूपही हो जाते हैं। अतएव द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ सर्वदा स्थिति-स्वभाव हैं ॥ ८ ॥

तत्थ णेगम-संगह-ववहार-णएसु सव्वे एदे णिक्खेवा' हवन्ति, तव्विसयम्मि तवभव'-सारिच्छ-सामण्णमिह सव्व-णिक्खेव-संभवादो । कधं दव्वट्ठिय-णये भाव णिक्खे-वस्स संभवो ? ण, वट्टमाण-पज्जायोवलक्खियं दव्वं भावो इदि दव्वट्ठियणया^{स्स} वट्टमाण-मवि आरंभप्पहुडि आ उवरमादो । संगहे सुद्ध-दव्वट्ठिए वि भाव-णिक्खेवस्स अत्थित्तं ण विरुज्झदे, सुवकुक्खि^३ -णिक्खित्तासेस-विसेस-सत्ताए सव्व-कालमवट्ठिदाए भाववभुवगमादो त्ति ।

उन सात नयोंमेंसे नेगम, संग्रह और व्यवहार, इन तीन नयोंमें नाम, स्थापना आदि सभी निक्षेप होते हैं, क्योंकि, इन नयोंके विषयभूत तद्भव-सामान्य और सादृश्य-सामान्यमें सभी निक्षेप संभव हैं ।

शंका— द्रव्यार्थिकनयमें भावनिक्षेप कैसे संभव है ? अर्थात् जिस पदार्थमें भावनिक्षेप होता है वह तो उस पदार्थकी वर्तमान पर्याय है, परंतु द्रव्यार्थिकनय सामान्यको विषय करता है, पर्यायको नहीं । इसलिये द्रव्यार्थिक नयमें जिसप्रकार दूसरे निक्षेप घटित हो जाते हैं उसप्रकार भावनिक्षेप घटित नहीं हो सकता है । भावनिक्षेपका अन्तर्भाव तो पर्यायार्थिक नयमें संभव है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको ही भाव कहते हैं, और वह वर्तमान पर्याय भी द्रव्यकी आरम्भसे लेकर अन्ततककी पर्यायोंमें आ ही जाती है । तथा द्रव्य अर्थात् सामान्य, द्रव्यार्थिक नयका विषय है जिसमें द्रव्यकी त्रिकालवर्ती पर्यायें । अन्तर्निहित हैं, अतएव द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप भी बन जाता है । यहां पर पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यतासे भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव समझना चाहिये ।

इसप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव विरोधको प्राप्त नहीं होता है, क्यों कि जो महासत्ता अपनी कुक्षिमें समस्त विशेष सत्ताओंको समाविष्ट किया हुए है और जो सदाकाल अवस्थित है उसे ही भावरूपसे स्वीकार किया गया है ।

अभेदरूपसे वस्तुको जब भी ग्रहण किया जायगा, तब ही वह वर्तमान पर्यायसे युक्त होगी ही, इसलिये वर्तमान पर्यायका अन्तर्भाव महासत्तामें हो जाता है । और शुद्ध संग्रह नयका महासत्ता विषय है, अतएव संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव हो जाता है । यहां पर भी पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यता समझना चाहिये ।

१ णेगम-संगह ववहारा सव्वे इच्छंति । कसाय-पाहुड.चुण्णि (जयध. अ.) पृ. ३०

२ सामान्यं द्वेधा, तिर्यगूर्ध्वताभेदात् । सदृशपरिणामस्तित्यंक्, खण्ड-मुण्डादिषु गोत्ववत् । परापर-विवर्तव्यापि-द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु । प. मु. ४, ३-५.

३ म, सुकुक्खि ।

णामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो ।
भावो दु पज्जवट्ठिय-परूवणा एस परमट्ठो^१ ॥ ९ ॥

अणेण सम्मइ-सुत्तेण सह कधमिदं वक्खाणं ण विरुज्झदे ? इदि ण, तत्थ पज्जायस्सलक्खण-क्खइणो भाववभुवगमादो ।

उज्जुसुदे^२ ट्ठवण-णिक्खेवं वज्जिऊण सव्वे णिक्खेवा हवंति, तत्थ सारिच्छ-सामण्णाभावादो ।

कधमुज्जुसुदे पज्जवट्ठिए दव्व-णिक्खेवो त्ति ? ण, तत्थ वट्टमाण-समयाणंत-गुण-णिणद-एग-दव्व-संभवादो । ण तत्थ णाम-णिक्खेवाभावो वि, सद्दोवलद्धि-काले णिय-तव्वाचयत्तुवलंभादो^३ । सद्द-समभिरूढ-एवंभूद-णएसु वि णाम-भाव-णिक्खेवा हवंति, तेसि चैय तत्थ संभवादो । एत्थ किमट्ठं णय-परूवणमिदि ?

शंका— नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों द्रव्याधिक नयके निक्षेप है, और भाव पर्यायाधिक नयकी पररूपणा है । यही परमार्थ सत्य है ॥ ९ ॥

सन्मतिकुर्कके इस कथनसे ' भावनिक्षेपका द्रव्याधिक नयमें अथवा संग्रह नयमें भी अन्तर्भाव होता है ' यह व्याख्यान क्यों नहीं विरोधको प्राप्त होगा ?

शंकाकारका यह अभिप्राय है, कि सन्मतिकारने भावनिक्षेपका केवल पर्यायाधिक नयमें भी अन्तर्भाव किया है । परंतु यहांपर उसका द्रव्याधिक नयमें अन्तर्भाव किया गया है । इसलिये यह कथन ती सन्मतिकारके कथनसे विरुद्ध प्रतीत होता है ।

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, सन्मतितर्कमें, जो पर्यायरूप स्वलक्षण क्षणिक है इसे भावरूपसे स्वीकार किया गया है । अर्थात् सन्मतितर्कमें पर्यायकी विवक्षासे कथन किया है, और यहां पर द्रव्यसे अभिन्न वर्तमान पर्यायको द्रव्य मानकर कथन किया है । इसलिये कोई विरोध नहीं आता है ।

ऋजुसूत्र नयमें स्थापना निक्षेपको छोड़कर शेष सभी निक्षेप संभव हैं, क्योंकि ऋजुसूत्र नयमें सादृश्य-सामान्यका ग्रहण नहीं होता है । और स्थापनानिक्षेप सादृश्य-सामान्यकी मुख्यतासे होता है ।

१. स. त. १, ६. नामोक्तं स्थापनाद्रव्यं द्रव्याधिकनयार्पणाद् । पर्यायार्थार्पणाद् भावस्तैर्न्यासः सम्य-गीरितः ॥ त. श्लो. वा. १, ६. ६९ नामाहितियं दवट्ठियस्स भावो य पज्जवनयस्य । संगह ववहारा पढमगस्स सेमा य इयरस्स ॥ वि. भा. ७५. पर्यायाधिकेन पर्यायतत्वमधिगन्तव्यम्, इतरेषां नामस्थापनः द्रव्याणां द्रव्याधिक-नयेन सामान्यात्मकत्वात् । स. सि. १, ६. वृत्ति.

२. उज्जुसुदो ठवण-वज्जे । कसाय-पाहुड-चुण्णि (जयध. अ.) पृ. ३०.

३. मु णियतवाचयत्तुवलंभादो ।

४. सद्द-णदस्य णाम-भाव-णिक्खेवा । कसाय-पाहुड-चुण्णि । (जयध. अ.) पृ. ३१.

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्योऽर्थं नाभिसमीक्षते ।

युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत् १ ॥ १० ॥

ज्ञानं प्रमाणमित्याहुरूपायो न्यास उच्यते ।

नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थ-परिग्रहः २ ॥ ११ ॥ इति ।

ततः कर्तव्यं नयनिरूपणम् ।

शंका--- ऋजुसूत्र तो पर्यायार्थिक नय है, उसमें द्रव्यनिक्षेप कैसे घटित हो सकता है ?

समाधान--- ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, ऋजुसूत्र नयमें वर्तमान समयवर्ती पर्यायसे अनन्तगुणान्वित एक द्रव्यही तो विषयरूपसे संभव है ।

विशेषार्थ--- पर्याय द्रव्यको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं रहती है, और ऋजुसूत्रका विषय वर्तमान पर्यायविशिष्ट द्रव्य है । इसलिये ऋजुसूत्र नयमें द्रव्यनिक्षेप भी संभव है ।

इसी प्रकार ऋजुसूत्र नयमें नामनिक्षेपका भी अभाव नहीं है, क्योंकि, जिस समय शब्दका ग्रहण होता है, उसी समय उसकी निज वाचकता पाई जाती है ।

शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नयमें भी नाम और भाव ये दो निक्षेप होते हैं, क्योंकि ये दो ही निक्षेप वहां पर संभव हैं, अन्य नहीं ।

विशेषार्थ--- शब्द, समभिरूढ और एवंभूत, ये तीनों ही नय शब्द-प्रधान हैं, और शब्द किसी न किसी संज्ञाके वाचक होते ही हैं । अतः उक्त तीनों नयोंमें नाम-निक्षेप बन जाता है । तथा उक्त तीनों नयवाचक शब्दोंके उच्चारण करते ही वर्तमानकालीन पर्यायको भी विषय करते हैं, अतएव उनमें भाव-निक्षेप भी बन जाता है ।

शंका--- यहां पर नयका निरूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान--- जो पदार्थका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा, नैगमादि नयोंके द्वारा और नामादि निक्षेपोंके द्वारा सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार नहीं करता है, उसे पदार्थका समीक्षण कभी युक्त (संगत) होते हुए भी अयुक्त (असंगत) सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्तकी तरह प्रतीत होता है ॥ १० ॥

१. जो ण पमाण-णएहि णिक्खेवेणं णिरिक्खदे अत्थं । तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ ।

ति. प. १. ८२.

अत्थं जो न समिक्खइ निक्खेव-णय-प्पमाणओ विहिणा । तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ ।

वि. भा. २७६४.

२. ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरूपायो न्यास उच्यते । नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थ-परिग्रहः ॥ लघीय. ६, २.

णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिय-भावत्थो । णिक्खेओ वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥ ति. प. १, ८३.

वत्थू पमाणविसयं णयविसयं हवइ वत्थु-एयंसं । जं दोहि णिण्णयट्ठं तं णिक्खेवे हवे विसयं ॥ णाणासहाव-भरियं

वत्थू गहिऊण तं पमाणेण । एयंतणांसणट्ठं पच्छा णय-जुंजणं कुणह ॥ जम्हा णएण ण विणा होइ णरस्स

सिय-वाय-पडिवत्ती । तम्हा सो णायव्वो एयंतं हंतुकामेण ॥ न. च. १७२, १७३, १७५.

इदानीं णिक्खेवत्थं भणिस्सामो । तत्थ णाम-मंगलं णाम णिमित्तंतर'-
णिरवेक्खा मंगल-सण्णा । तत्थ णिमित्तं चउव्विहं, जाइ-दव्व-गुण-किरिया चेदि ।
तत्थ जाई तद्भवसारिच्छ-लक्खण-सामण्णं । दव्वं दुविहं संजोय-दव्वं समवाय-दव्वं
चेदि । तत्थ संजोय-दव्वं णाम पुध पुध पसिद्धाणं दव्वाणं संजोगेण णिप्पण्णं । समवाय-
दव्वं णाम जं दव्वं दव्वम्मि^२ समवेदं । गुणो णाम पज्जायादि-परोप्पर-विरुद्धो-अवि-
रुद्धो वा । किरिया णाम परिप्फंदणरूवा । तत्थ जाइ-णिमित्तं णाम गो-मणुस्स-घड-
पड-त्थंभवेत्तादि^३ । संजोग-दव्व-णिमित्तं णाम दंडी छत्ती मउली^४ इच्चेवमादि^५ ।
समवाय-दव्व-णिमित्तं^६ णाम गल-गंडो काणो कुंडो इच्चेवमाइ । गुण-णिमित्तं णाम
किण्हो रहिरो इच्चेवमाइ^७ । किरिया-णिमित्तं णाम गायणो गच्चणो इच्चेवमाइ^८ ।
ण च एदे चत्तारि णिमित्ते मोत्तूण णाम-पउत्तीए अण्णं^९ णिमित्तंतरमत्थि ।

विद्वान् लोग सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, नामादिकके द्वारा वस्तुमें भेद करनेके
उपायको न्यास या निक्षेप कहते हैं, और ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं । इसप्रकार युक्तिते
अर्थात् प्रमाण, नय, और निक्षेपके द्वारा पदार्थका ग्रहण अथवा निर्णय करना चाहिये ॥ ११ ॥

अतएव नयका निरूपण करना आवश्यक है ।

अब आगे नामादि निक्षेपोंका कथन करते हैं । उनमेंसे, अन्य निमित्तोंकी अपेक्षा रहित
किसीकी 'मंगल' ऐसी संज्ञा करनेको नाममंगल कहते हैं । वहाँ निमित्त चार प्रकारका है-
जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया । उन चार निमित्तोंमेंसे तद्भव और सादृश्य-लक्षणवाले
सामान्यको जाति कहते हैं ।

१. नाम्नो वक्कुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम् । तस्मादन्यत्तु जात्यादि निमित्तान्तरमिप्यते ॥
त. श्लो. वा. १, ५.
२. मु. जं. दव्वम्मि ।
३. जातिद्वारेण शब्दो हि यो द्रव्यादिषु वर्तते । जातिहेतुः स विज्ञेयो गौरश्च इति शब्दवत् ॥
त. श्लो. वा. १, ५, ३.
४. मु. मोली ।
५. संयोगि-द्रव्य-शब्दः स्यात्कुंडलीत्यादिशब्दवत् । समवायि-द्रव्य-शब्दो विषाणीत्यादिरास्थितः ॥
त. श्लो. वा. १, ५, ९.
६. मु. समवायणिमित्तं ।
७. गुणप्राधान्यतो वृत्ते द्रव्ये गुणनिमित्तकः । शुक्लः पाटल इत्यादि-शब्दवत्संप्रतीयते ॥
त. श्लो. वा. १, ५, ६.
८. कर्म-प्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुर्निबुध्यते । चरति प्लवते यद्वत्कश्चिदित्यतिनिश्चितम् ॥
त. श्लो. वा. १, ५, ७.
९. मु. अण्ण -

वच्चत्थ^१-णिरवेक्खो मंगल-सद्दो णाम-मंगलं । तस्स मंगलस्स आधारो अट्ठ-विहो । तं जहा, जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो^२ य अजीवो य,

विशेषार्थ— किसी एक द्रव्यकी त्रिकालगोचर अनेक पर्यायोंमें रहनेवाले अन्वयको तद्भवसामान्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं । जैसे मनुष्यकी बालक, युवा और वृद्ध अवस्थामें मनुष्यत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है । तथा एक ही समयमें नाना व्यक्तिगत संदृश परिणामको सादृश्यसामान्य या तिर्यकसामान्य कहते हैं । जैसे, रंग, आकार आदिसे भिन्न भिन्न प्रकारकी गायोंमें गोत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है ।

द्रव्यके दो भेद हैं, संयोग-द्रव्य और समवाय-द्रव्य । उनमें, अलग अलग सत्ता रखनेवाले द्रव्योंके मेलसे जो पैदा हो उसे संयोग-द्रव्य कहते हैं । जो द्रव्य द्रव्यमें समवेत हो अर्थात् कथंचित् तादात्म्य रखता हो उसे समवाय-द्रव्य कहते हैं । जो पर्याय आदिककी अपेक्षा परस्पर विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो उसे गुण कहते हैं । परित्पंद अर्थात् हलन-चलनरूप अवस्थाको क्रिया कहते हैं ।

उन चार प्रकारके निमित्तोंमेंसे, गौ, मनुष्य, घट, पट, स्तंभ, वेत इत्यादि जाति-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, गौ-मनुष्यादि संज्ञाएं, गौ-मनुष्यादि जातिमें उत्पन्न होनेसे प्रचलित हैं । दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि संयोग-द्रव्य-निमित्तक नाम हैं । क्योंकि, दंडा, छतरी, मुकुट इत्यादि स्वतंत्र-सत्तावाले पदार्थ हैं, और उनके संयोगसे दंडी छत्री, मौली इत्यादि नाम व्यवहारमें आते हैं । गलगण्ड, काना, कुबड़ा इत्यादि समवाय-द्रव्यनिमित्तक नाम हैं, क्योंकि, जिसके लिये 'गलगण्ड' इस नामका उपयोग किया गया है उससे गलेका गण्ड भिन्नसत्तावाला नहीं है । इसी प्रकार काना, कुबड़ा आदि नाम समझ लेना चाहिये । कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुण-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, कृष्ण आदि गुणोंके निमित्तसे उन गुणवाले द्रव्योंमें ये नाम व्यवहारमें आते हैं । गायक, नर्तक इत्यादि क्रिया-निमित्तक नाम हैं । क्योंकि, गाना, नाचना आदि क्रियाओंके निमित्तसे गायक, नर्तक आदि नाम व्यवहारमें आते हैं । इसतरह जाति आदि उन चार निमित्तोंको छोड़कर संज्ञाकी प्रवृत्तिमें अन्य कोई निमित्त नहीं है ।

वाच्यार्थ अर्थात् शब्दार्थकी अपेक्षा रहित 'मंगल' शब्द नाममंगल है । उस मंगलका आधार आठ प्रकारका है । जैसे, १ एक जीव, २ अनेक जीव, ३ एक अजीव, ४ अनेक अजीव, ५ एक जीव और एक अजीव, ६ अनेक जीव और एक अजीव, ७ एक जीव और अनेक अजीव, ८ अनेक जीव और अनेक अजीव ।

विशेषार्थ— मंगलके लिये आधार या आश्रय आठ प्रकारका होता है, जिसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये— १ साक्षात् एक जिनेन्द्रदेवके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है

१ अ-ब-बज्जत्थ । ' नामं पि होज्ज सन्ना तव्वच्चं वा तयत्थपरिसुत्तं ॥ वि. भा. ३४००

२ अ-अजीवो च जीवा च, अजीवा च जीवो च, अजीवा च जीवा चेति ।

जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य, जीवा य अजीवा य इदि' ।

तत्थ ट्ठवण-मंगलं णाम आहिद-णामस्स अण्णस्स सोयमिदि ट्ठवणं ट्ठवणा णाम । सा दुविहा सब्भावसब्भाव-ट्ठवणा चेदि । तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सब्भाव-ट्ठवणा । तत्त्विवरीया असब्भाव-ट्ठवणा ।

उसे एकजीवाश्रित मंगल कहते हैं । यहां जिनेन्द्रदेवके स्थानपर एक जिन-यति भी लिया जा सकता है । २ अनेक यतियोंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीवाश्रित मंगल कहते हैं । ३ एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ४ अनेक जिन-प्रतिमाओंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ५ एक जिनेन्द्रदेव और एक ही उनकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ६ अनेक यति और एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ७ एक जिनेन्द्रदेव और अनेक जिनप्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ८ अनेक यति और अनेक जिनप्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं ।

उन नामादि मंगलोंमेंसे अब स्थापनामंगलको बतलाते हैं । किसी नामको धारण करनेवाले दूसरे पदार्थकी 'वह यह है' इसप्रकार स्थापना करनेको स्थापना कहते हैं । वह स्थापना दो प्रकारकी है, सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना । इन दोनोंमेंसे, जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारको धारण करनेवाली वस्तुमें सद्भावस्थापना समझना चाहिये तथा जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारसे रहित वस्तुमें असद्भावस्थापना जानना चाहिये ।

लेखनीसे लिखकर अर्थात् चित्र बनाकर, और खनन अर्थात् छेनी, टांकी आदिके द्वारा, बन्धन अर्थात् चिनाई, लेप आदिके द्वारा तथा क्षेपण अर्थात् सांचे आदिमें ढलाई आदिके द्वारा मूर्ति बनाकर स्थापित किये गये, और जिसमें बुद्धिसे अनेक प्रकारके मंगलरूप अर्थके सूचक गुणसमूहोंकी कल्पना की गई है ऐसे मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके रूपको अर्थात् तदाकार आकृतिको सद्भावस्थापना-मंगल कहते हैं ।

१. ' किञ्चिद्धि प्रतीतमेकजीवनाम, यथा डित्थ इति । किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति । किञ्चिदेकाजीवनाम, यथा घट इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम, यथा प्रासाद इति । किञ्चिदेकजीवकाजीवनाम, यथा प्रतीहार इति । किञ्चिदेकजीवानेकाजीवनाम, यथा काहार इति । किञ्चिदेकाजीवानेक-जीवनाम, यथा मंदुरेति । किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम, यथा नगरमिति ' । त. श्लो. वा. १, ५. जीवस्स सो जिणस्स व अज्जीवस्स उ जिण्णिदपडिमाए । जीवाण जईणं पि व अज्जीवाणं तु पडिमाणं ॥ जीवस्साजीवस्स व जइणो बिबस्स चेगओ समयं । जीवस्साजीवाण य जइणो पडिमाण चेगत्थं ॥ जीवाणमजीवस्स य जइणो बिबस्स चेगओ समयं । जीवाणमजीवाण य जइणो पडिमाण चेगत्थं ॥ वि. भा. ३४२४, ३४२५, ३४२६.

मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-रूवं लिहण-खणण-बंधण-क्खेवणादिणं ठविदं बुद्धीए आरोविद-गुण-समूहं सन्भाव-ट्ठवणा-मंगलं^१ । बुद्धीए समारोविद-मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-गुण-सरूवक्ख-वराडयादयो असन्भाव-ट्ठणा-मंगलं^२ ।

द्व-मंगलं नाम अणागय-पज्जाय-विसेसं पडुच्च गहियाहिमुहियं दब्बं अतन्भावं वा । तं दुविहं, आगम-णो-आगम-दब्बं चेदि । आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि

नमस्कारादि करते हुए जीवके आकारसे रहित अक्ष अर्थात् शतरंजकी गोटीमें वराडक अर्थात् कौड़ियोंमें तथा इसीप्रकारकी अन्य अतदाकार वस्तुओंमें मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके गुण स्वरूपकी बुद्धिसे कल्पना करना असद्भाव-स्थापना-मंगल है ।

विशेषार्थ— जैसे शतरंज आदिके खेलमें राजा, मन्त्री आदिकी और खेलनेकी कौड़ी व पासोंमें संख्याकी आरोपणा होती है, उसीप्रकार मंगलपर्यायपरिणत जीव और उसके गुणोंकी बुद्धिके द्वारा की हुई स्थापनाको असद्भावस्थापनामंगल कहते हैं ।

अब द्रव्यमंगलका कथन करते हैं । आगे होनेवाली मंगल पर्यायको ग्रहण करनेके सन्मुख हुए द्रव्यको (उस पर्यायकी अपेक्षा) द्रव्यमंगल कहते हैं । अथवा, वर्तमान पर्यायकी विवक्षासे रहित द्रव्यको ही द्रव्यमंगल कहते हैं । वह द्रव्यमंगल आगम और नो-आगमके भेदसे दो प्रकारका है ।

आगम, सिद्धान्त और प्रवचन, ये शब्द एकार्थवाची हैं । आगमसे भिन्न पदार्थको नोआगम कहते हैं ।

मंगल-प्राभूत अर्थात् मंगल विषयका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाले, किंतु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं । अथवा, मंगल विषयके प्रतिपादक शास्त्रकी शब्द रचनाको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं । अथवा मंगल विषयको प्रतिपादन करनेवाले उस मंगल प्राभूत शास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं ।

विशेषार्थ— आगे होनेवाली पर्यायके सन्मुख, अथवा वर्तमान पर्यायकी विवक्षासे रहित, अर्थात् भूत या भविष्यत् पर्यायकी विवक्षासे द्रव्यको द्रव्यमंगल कहा है, और तद्विषयक ज्ञानको आगम कहा है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो मंगलविषयक शास्त्रका जानकार वर्तमान उसके उपयोगसे रहित हो वह आगमद्रव्यमंगल है । यहांपर जो मंगलविषयक

१ तत्राध्यारोप्यमानेन भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा तद्भावस्थापना, मुख्यदर्शिनः स्वयं तस्यास्त-
द्बुद्धिसंभवात् कथंचित्सादृश्यसद्भावात् । त. श्लो. वा. १, ५.

२ मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽप्यमिति संप्रत्ययात् ।
त. श्लो. वा. १, ५.

एयट्ठो । आगमादो अण्णो णो-आगमो । तत्थ' आगमदो दब्ब-मंगलं णाम, मंगल-पाहुड-जाणओ अणुवजुत्तो, मंगल-पाहुड-सद्-रयणा-वा, तस्सत्थ^१-ट्ठवणक्खर-रयणा वा । णो-आगमदो दब्ब मंगलं तिविहं । जाणुग-सरीरं भवियं तव्वदिरित्तमिदि । जं तं जाणुग-सरीर^२-णो-आगम-दब्ब-मंगलं तं तिविहं, मंगल-पाहुडस्स-केवल-णाणादि-मंगल-पज्जायस्स वा आधारत्तणेण भविय-वट्टमाणादीद-सरीरमिदि । आहारस्साहेयो-वयारादो भवदु धरिद-मंगल-पज्जाय-परिणद-जीवसरीरस्स मंगल-ववएसो, ण

शास्त्रकी शब्दरचना अथवा मंगलशास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको आगमद्रव्य-मंगल कहा है वह उपचारसे ही समझना चाहिये । क्योंकि, मंगलविषयक शास्त्र-ज्ञानमें मंगल-विषयक शास्त्रकी शब्द रचना और मंगलशास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचना ये मुख्य-रूपसे बाह्य निमित्त पड़ते हैं । वैसे तो सहकारी कारण शरीरादिक और भी होते हैं, परंतु वे मुख्य बाह्य निमित्त न होनेसे उनका ग्रहण नो-आगममें किया है । अथवा, मंगलविषयक शास्त्रज्ञानसे और दूसरे बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा इन दोनों बाह्य निमित्तोंकी विशेषता दिखानेके प्रयोजनसे इन दोनों बाह्य निमित्तोंका आगमद्रव्यमंगलमें ग्रहण कर लिया है ।

नो-आगमद्रव्यमंगल तीन प्रकारका है, ज्ञायकशरीर, भव्य या भावि और तद्व्यतिरिक्त । उनमें जो ज्ञायकशरीर नो-आगमद्रव्यमंगल है वह भी तीन प्रकारका समझना चाहिये । मंगल-विषयक शास्त्रका अथवा केवलज्ञानादिरूप मंगल-पर्यायका आधार होनेसे भाविशरीर, वर्तमान-शरीर और अतीतशरीर, इसप्रकार ज्ञायकशरीर नो-आगमद्रव्यमंगलके तीन भेद हो जाते हैं ।

शंका— आधारभूत शरीरमें आधेयभूत आत्माका-उपचार करके धारण की हुई मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके शरीरको नो-आगमज्ञायकशरीरद्रव्यमंगल कहना तो उचित भी है, परंतु भावी और भूत शरीर को मंगल संज्ञा देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि, उनमें मंगलरूप पर्यायके अस्तित्वका अभाव है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि राज-पर्यायका आधार होनेसे अनागत और अतीत जीवमें भी जिसप्रकार राजारूप व्यवहारकी उपलब्धि होती है, उसीप्रकार मंगल पर्यायसे परिणत जीवका आधार होनेसे अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है ।

१. आगमओणुवउत्तो मंगल-सद्दाणुवासिओ वत्ता । तन्नाण-लद्धि-चेहिओ वि नोवउत्तो त्ति तो दब्बं ॥ जद नाणमागमो तो कह दब्बं दब्बमागमो कह णु । आगम-कारणमाया देहो सद्दो यतो दब्बं ॥ मंगल-पयत्थ जाणय-देहो भवरस वा सजीवो वि । नो-आगमओ दब्बं आगम-रहिओ त्ति जं भणिअं ॥ अहवा नो देसम्मि नो आगमओ तदेग-देसाओ । भूयस्स भाविणो वाऽऽगमस्स जं कारणं देहो ॥ जाणय-भव्य-सरीरादिरित्तमिह दब्ब-मंगलं होइ । जा मंगल्ला किरिया तं कुणमाणो अणुवउत्तो ॥ वि. भा. २९, ३०, ४४, ४५, ४६.

२. अ-तस्सद् ।

३. मु. सरीरं ।

अर्णोसि, तेषु त्रिद-मंगल-पञ्जायाभावा ? ण, राय-पञ्जायाहारत्तणेण अणागदादीद-जीवे वि राय-ववहारोवलंभा ।

तत्थ अदीद-सरीरं तिविहं, चुदं चइदं चत्तमिदि । तत्थ चुदं णाम कयली-घावेण विणा पक्कं पि फलं व कम्मोदएण ज्जीयमाणायु-क्खय-पदिदं । चइदं णाम कयलीघावेण छिण्णायु-क्खय-पदिद-सरीरं । उत्तं च—

विशेषार्थ— आगमके बाह्य सहकारी कारण होनेसे शरीरको नो-आगम कहा गया है । और उसमें अन्वय प्रत्ययकी उपलब्धि होनेसे उसे द्रव्य कहा गया है । ये दोनों बातें अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीनों शरीरोंमें घटित होती हैं, इसलिये इनमें मंगलपनेका व्यवहार हो सकता है । इसका खुलासा इसप्रकार है—

औदारिक, वैश्विक और आहारक शरीर मंगलविषयक शास्त्रके परिज्ञानमें बाह्य सहकारी कारण हैं, क्योंकि, इनके विना कोई शास्त्रका अभ्यास ही नहीं कर सकता है । अब इनमें अन्वय-प्रत्यय कैसे पाया जाता है इसका खुलासा करते हैं । जिस शरीरसे मैंने मंगल शास्त्रका अभ्यास किया था वही शरीर उक्त अभ्यासको पूरा करते समय भी विद्यमान है, इस प्रकार तो वर्तमान ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्यय पाया जाता है । मंगल शास्त्रज्ञानसे उपयुक्त मेरा जो शरीर था, तद्विषयक शास्त्रज्ञानसे रहित मेरे अब भी वही शरीर विद्यमान है, इसप्रकार अतीत ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि होती है । मंगल शास्त्रज्ञानके उपयोगसे रहित मेरा जो शरीर है वही तद्विषयक तत्त्वज्ञानकी उपयोग-दशामें भी होगा, इसप्रकार अनागत ज्ञायकशरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि बन जाती है । इसलिये वर्तमान शरीरकी तरह अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है ।

इनमेंसे अतीत शरीरके तीन भेद हैं, च्युत, च्यावित और त्यक्त ।

कदलीघात-मरणके विना पके हुए फलके समान कर्मके उदयसे झड़नेवाले आयुकर्मके क्षयसे अपने आप पतित शरीरको च्युतशरीर कहते हैं ।

विशेषार्थ— जैसे पका हुआ फल अपना समय पूरा हो जानेके कारण वृक्षमेंसे स्वयं गिर पड़ता है । वृक्षसे अलग होनेके लिये उसे और दूसरे बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं पड़ती है । उसीप्रकार आयु कर्मके पूरे हो जाने पर जो शरीर शस्त्रादिकके विना छूट जाता है, उसे च्युत शरीर कहते हैं ।

कदलीघातके द्वारा छिन्न आयुके क्षय हो जानेसे छूटे हुए शरीरको च्यावितशरीर कहते हैं । कहा भी है—

विस^१-वेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहि^२ ।

आहारुस्सासाणं^३ णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥ १२ ॥ इदि ॥

चत्तसरीरं तिविहं, पायोवगमण-विहाणेण, इंगिणी-विहाणेण, भत्त-पच्चक्खाण-विहाणेण, चत्तमिदि । तत्रात्मपरोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनम्^४ । आत्मोपकारसव्यपेक्षं *

विषके खा लेनेसे, वेदनासे, रक्तका क्षय हो जानेसे, तीव्र भयसे, शस्त्राघातसे, संक्लेशकी अधिकतासे तथा आहार और श्वासोच्छ्वासके रुक जानेसे आयु क्षीण हो जाती है ॥ १२ ॥

विशेषार्थ— जैसे कदली (केला) के वृक्षका तलवार आदिके प्रहारसे एकदम विनाश हो जाता है, उसीप्रकार विष-भक्षणादि निमित्तोंसे भी जीवकी आयु एकदम उदीर्ण होकर छिन्न हो जाती है । इसे ही अकाल-मरण कहते हैं, और इसके द्वारा जो शरीर छूटता है उसे च्यावित शरीर कहते हैं ।

त्यक्तशरीर तीन प्रकारका है, प्रायोपगमन विधानसे छोड़ा गया, इंगिनी विधानसे छोड़ा गया और भक्तप्रत्याख्यान विधानसे छोड़ा गया । इसतरह त्यक्त शरीरके तीन भेद हो जाते हैं ।

अपने और परके उपकारकी अपेक्षा रहित समाधिमरणको प्रायोपगमन कहते हैं ।

विशेषार्थ— प्रायोपगमन समाधिमरणको धारण करनेवाला साधु संस्तरका ग्रहण करना, बाधाके निवारणके लिये हाथ पांवका हिलाना, एक क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रमें जाना आदि क्रियाएं न तो स्वयं करता है और न दूसरेसे कराता है । जैसे काष्ठ सर्वथा निश्चल रहता है, उसीप्रकार वह साधु समाधिमें सर्वथा निश्चल रहता है । शास्त्रोंमें प्रायोपगमनके अनेक प्रकारके अर्थ मिलते हैं । जैसे, संघको छोड़कर अपने पैरोंद्वारा किसी योग्य देशका आश्रय करके जो समाधिमरण किया जाता है उसे पादोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, प्राय अर्थात् संन्यासकी तरह उपवासके द्वारा जो समाधिमरण होता है उसे प्रायोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, पादप अर्थात् वृक्षकी तरह निष्पन्दरूपसे रहकर, शरीरसे किसी भी प्रकारकी क्रिया न करते हुए जो समाधिमरण होता है उसे पादपोपगमन समाधिमरण कहते हैं । इन सब अर्थोंका मुख्य अभिप्राय यही है कि इस विधानमें अपने व परके उपकारकी अपेक्षा नहीं रहती है ।

१. गो. क. ५७. २. मु. संकिलिस्सेहि । ३. मु. आहारो ।

४. पायोवगमणमरणं, पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणम् । अथवा 'पाउग्ग-गमणमरणं' इति पाठः, भवान्तरणं प्रायोग्यं संहननं संस्थानं चेह प्रायोग्यशब्देनोच्यते । अस्य गमनं प्राप्तिः, तेन कारणभूतेन यन्निकर्तयं मरणं तदुच्यते पाउग्गगमणमरणमिति । मूलारा. पृ. ११३. 'पाओवगमणं' पादपस्येवो-पगमनमस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनम् । तदुक्तं-पाओवगमणं भणियं सम-विसमे पायवो जहा पडितो । नवरं परप्पओगा कपेज्ज जहा जलतरु व्व ॥ ५४४ अभिरा. कोष (पाओवगमण)

परोपकारनिरपेक्षं इंगिनीमरणम्^१ । आत्मपरोपकारसव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति^२ । तत्र भक्तप्रत्याख्यानं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात् । जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्^३ । उत्कृष्टभक्तप्रत्याख्यानं द्वादशवर्षप्रमाणम्^४ । मध्यममेतयोरन्तरालमिति ।

जिस संन्यासमें, अपने द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरेके द्वारा किये गये वैयावृत्य आदि उपकारकी अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती, उसे इंगिनीसमाधि कहते हैं ।

विशेषार्थ— इंगिनी शब्दका अर्थ इंगित (अभिप्राय) है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इस समाधिमरणको करनेवाला स्वतः किये हुए उपकारकी अपेक्षा रखता है । इस समाधि-मरणमें साधु संघसे निकलकर किसी योग्य देशमें समभूमि अथवा शिलापट्ट देखकर उसके ऊपर स्वयं तृणका संस्तर तैयार करके समाधिकी प्रतिज्ञा करता है । इसमें उठना, बैठना, सोना, हाथ-पैरका पसारना, मल-मूत्रका विसर्जन करना आदि क्रियाएं क्षणक स्वयं करता है । किसी दूसरे साधुकी सहायता नहीं लेता है । इस तरह यावज्जीवन चार प्रकारके आहारके त्यागके साथ, स्वयं किये गये उपचार सहित समाधिमरणको इंगिनी-संन्यास कहते हैं ।

जिस संन्यासमें अपने और दूसरेके द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है उसे भक्तप्रत्याख्यानसंन्यास कहते हैं ।

विशेषार्थ— भक्त नाम भोजनका है, और प्रत्याख्यान त्यागको कहते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि जिस संन्यासमें क्रम-क्रमसे आहारादिका त्याग करते हुए अपने और पराये उपकारकी अपेक्षा रखकर समाधिमरण किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान संन्यास कहते हैं ।

इन तीनों प्रकारके समाधिमरणोंमेंसे भक्त-प्रत्याख्यानविधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी है । जघन्य भक्तप्रत्याख्यान विधिकी प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है, उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यान विधिकी प्रमाण बारह वर्ष है और मध्यम भक्तप्रत्याख्यान विधिकी प्रमाण, जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर बारह वर्षके भीतर है ।

१. इंगिणीशब्देन, इंगितमात्मनोऽभिप्रायो भण्यते, स्वाभिप्रायेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणम् । यत्पुनः स्ववैयावृत्तिसापेक्षमेव । मूलारा. पृ. १२४. अत्र नियमाच्चतुर्विधाहारविरतिः, परपरिकर्मविवर्जनञ्च भवति । स्वयं पुनरिङ्गितदेशाम्यन्तरे उद्वर्तनादि चेष्टात्मकं परिकर्म यथासमाधि विदधाति । अभि. रा. कोष. (इंगिणी)

२. भज्यते देहस्थित्यर्थमिति भक्तमाहारः । तस्य प्रतिज्ञा प्रत्याख्यानं त्यागः । भक्तप्रतिज्ञा स्वपर-वैयावृत्यसापेक्षं मरणम् । मूलारा. पृ. ११३.

३. उक्कस्सएण भत्त-पइण्णा कालो जिणेहि णिट्ठो । कालं हि संपहुत्ते वारिस वरिसाणि पुण्णाणि ॥ जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेदि संवच्छराणि चत्तारि । वियडिणी य जूहिता चत्तारि पुणो वि सोसेइ ॥ आयविल्ल-णवियडीहिं दोण्णा आयविल्लेण एकं च । अद्धं णादि बिगट्ठेहिं तदो अद्धं विगट्ठेहिं ॥ मूलारा. २५७-२५९.

संजम-विणास-भएण उस्सास-णिरोहं' काऊण मुद-साहु-सरीरं कत्थ णिवददि ? ण कत्थ वि, तहा-मुद-देहस्स मंगलत्ताभावादो । मंगल-पाहुड-धारयस्स धरिद-महव्व-यस्स चत्त-देहस्स अचत्त-देहस्स वा देहो कधममंगलं ? साहूणमजुत्तकारिस्स देहत्तादो अमंगलमिदि ण वोत्तुं जुत्तं, पुव्वं ति-रयणाहारत्तेण मंगलत्तमवगयस्स पच्छा भूद-पुव्व-णाएण मंगल-भावं पडि विरोहाभावादो । तदो मंगल-भावेण कत्थ वि णिवदेयव्वमेदेण सरीरेणेति । ण चइदम्हि पददि, चत्तस्स वि आहार-णिरोहेण पदिदस्स चइदत्तावत्तीदो । तो क्वहि एदं घेत्तव्वं ? कयली-घादेण मरण-कंखाए जीवियासाए जीविय-मरणासाहि विणा वा पदिद-सरीरं चइदं । जीवियासाए मरणा-साए जीविय-मरणासाहि विणा वा कयलीघादेण अचत्त-भावेण पदिद-सरीरं च्चुदं णाम ।

शंका— संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके मरे हुए साधुके शरीरका त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किस भेदमें अन्तर्भाव होता है ?

समाधान— ऐसे शरीरका त्यक्तके किसी भी भेदमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि इस प्रकारसे मृत शरीरको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता ।

शंका— जो मंगल शास्त्रका धारक है अर्थात् ज्ञाता है, जिसने महाव्रतको धारण किया है, चाहे उस साधुने समाधिसे शरीर छोड़ा हो अथवा नहीं छोड़ा हो, परंतु उसके शरीरको अमंगलपना कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि कहा जावे कि साधुओंमें अयोग्य कार्य करनेवाले साधुका शरीर होनेसे वह अमंगल है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शरीर पहले रत्नत्रयका आधार होनेसे मंगलपनेको प्राप्त हो चुका है, उसमें पीछेसे भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा मंगलत्वके स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । इसलिये मंगलपनेकी अपेक्षा संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासके निरोधसे छोड़े हुए साधुके शरीरका त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किसी एक भेदमें समावेश होना चाहिये । इस शरीरका च्यावितमें तो अन्तर्भाव हो नहीं सकता है, क्योंकि, यदि इसका च्यावितमें अन्तर्भाव किया जावे, तो आहारके निरोधसे छूटे हुए त्यक्त शरीरका भी च्यावितमें ही अन्तर्भाव करना पड़ेगा ? तो ऐसे शरीरको किस भेदमें ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान— मरणकी आशासे या जीवनकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके विना ही कदलीघातसे छूटे हुए शरीरको च्यावित कहते हैं । जीवनकी आशासे, मरणकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके विना ही कदली-घात व

१. तो णाउ वित्तिच्छेयं ऊसासनिरोहमादिणि कयाइ । अणहीयासे तेहि वेयणसाहहि ओमम्मि ॥ पडि-घातो वा विज्जू गिरिभित्ती कोणयाइ वा हुज्जा । संबद्धहत्थपायादओ व्व वातेण होज्जाहि ॥ एएहि कारणेहि पडियमरण तु काऊमसमत्थो । ऊसासगिद्धपट्ठं रज्जुगहणं च कुज्जाहि ॥ व्यव. सू. ५४६-५४८.

जीविद-मरणासाहि विणा सरूवोवलद्धिणिमित्तं चत्त^१-बज्जंतंरंग-परिग्गहस्स कयली-घादेणियरेण वा पदिद-सरीरं चत्तदेहमिदि ।

भव्यनोआगमद्रव्यं भविष्यत्काले मङ्गलप्राभूतज्ञायको जीवः मङ्गलपर्यायं परिणंस्यतीति वा । तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्मनोकर्ममङ्गलभेदात् । तत्र कर्ममङ्गलं दर्शन-विशुद्ध्यादि-षोडशधा-प्रविभक्त-तीर्थकर-नामकर्म-कारणैर्जीव-प्रदेश-निबद्ध-तीर्थकर-नामकर्म माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम् यत्तन्नोकर्ममङ्गलं । तद् द्विविधम्, लौकिकं लोकोत्तरमिति । तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति ।

समाधिमरणसे रहित होकर छूटे हुए शरीरको च्युत कहते हैं । आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके निमित्त, जिसने बहिरंग और अंतरंग परिग्रहका त्याग कर दिया है ऐसे साधुके जीवन और मरणकी आशाके विना ही कदलीघातसे अथवा इतर कारणोंसे छूटे हुए शरीरको त्यक्तशरीर कहते हैं ।

विशेषार्थ— पूर्वमें बतलाये गये च्युत, च्यावित और त्यक्तके स्वरूपपर ध्यान देनेसे यह भली प्रकार विदित हो जाता है कि संयम-विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके छूटे हुए साधुके शरीरका च्यावितमें ही अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, च्यावित मरणमें कदलीघातकी प्रधानता है । और श्वासोच्छ्वासका स्वयं निरोध करके मरना कदलीघातमरण है । उसमें समाधिका सद्भाव नहीं रह सकता है, इसलिये ऐसे मरणका त्यक्तके किसी भी भेदमें ग्रहण नहीं किया जा सकता है । यद्यपि किसी त्यक्तमरणमें कदलीघात भी निमित्त पड़ता है । परंतु वहांपर कदलीघातसे, परकृत उपसर्गादि निमित्तोंका ही ग्रहण किया गया है, स्वकृत श्वासोच्छ्वासनिरोध आदि आत्मघातके साधन विवक्षित नहीं हैं ।

जो जीव भविष्यकालमें मंगल-शास्त्रका जाननेवाला होगा, अथवा मंगलपर्यायसे परिणत होगा उसे भव्यनोआगमद्रव्यमंगलनिक्षेप कहते हैं ।

विशेषार्थ— ज्ञायकशरीरके तीन भेद किये हैं । उसका एक भेद भावी भी है । परंतु उससे इस भावीको भिन्न समझना चाहिये, क्योंकि, ज्ञायकशरीरके भावी विकल्पमें ज्ञाताके आगे होनेवाले शरीरको ग्रहण किया है, और यहांपर भविष्यमें होनेवाला तद्विषयक शास्त्रका ज्ञाता ग्रहण किया है ।

कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगलके भेदसे तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । उनमें दर्शनविशुद्धि आदि सोलह प्रकारके तीर्थकर नामकर्मके कारणोंसे जीवके प्रदेशोंसे बंधे हुए तीर्थकर नामकर्मको कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल कहते हैं, क्योंकि, वह मंगलपनेका सहकारी कारण है ।

नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । एक लौकिक नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यमंगल और दूसरा लोकोत्तर नोकर्मतद्व्यतिरिक्त-नोआगमद्रव्यमंगल ।

तत्राचित्तमङ्गलम्—

सिद्धत्थ-पुण्ण-कुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं ।

सेदो वण्णो आदंसणो ऽ कण्णा य जच्चस्सो' ॥ १३ ॥

सचित्तमङ्गलम् । मिश्रमङ्गलं सालङ्कारकन्यादिः ।

उन दोनोंमेंसे लौकिकमंगल सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है ।

इनमें— 'सिद्धार्थ' अर्थात् श्वेत सरसों, जलसे भरा हुआ कलश, वंदनमाला, छत्र, श्वेत-वर्ण, और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं । और बालकन्या तथा उत्तम जातिका घोड़ा आदि सचित्त मंगल हैं ॥ १३ ॥

अलंकारसहित कन्या आदि मिश्र-मंगल समझना चाहिये । यहां पर अलंकार अचित्त और कन्या सचित्त होनेके कारण अलंकारसहित कन्याको मिश्रमंगल कहा है ।

विशेषार्थ— पंचास्तिकायकी टीकामें भी जयसेन आचार्यने इन पदार्थोंको मंगलरूप माननेमें भिन्न भिन्न कारण दिये हैं । वे इस प्रकार हैं, जिनेन्द्रदेवने व्रतादिकके द्वारा परमार्थको प्राप्त किया और उन्हें सिद्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई, इसलिये लोकमें सिद्धार्थ अर्थात् श्वेत सरसों मंगलरूप माने गये । जिनेन्द्रदेव संपूर्ण मनोरथोंसे अथवा केवलज्ञानसे परिपूर्ण हैं, इसलिये पूर्ण-कलश मंगलरूपसे प्रसिद्ध हुआ । बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौबीस ही तीर्थंकर वन्दना करने योग्य हैं, इसलिये भरत चक्रवर्तीने वन्दनमालाकी स्थापना की । अरहंत परमेष्ठी सभी जीवोंका कल्याण करनेवाले होनेसे जगके लिये छत्राकार हैं, अथवा सिद्धलोक भी छत्राकार है, इसलिये छत्र मंगलरूप माना गया है । ध्यान, शुक्ललेश्या इत्यादिको श्वेत-वर्णकी उपमा दी जाती है । इसलिये श्वेतवर्ण मंगलरूप माना गया है । जिनेन्द्रदेवके केवलज्ञानमें जिस प्रकार लोक और अलोक प्रतिभासित होता है, उसीप्रकार दर्पणमें भी अपना बिम्ब झलकता है; अतएव दर्पण मंगलरूप माना गया है । जिसप्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव लोकमें मंगलस्वरूप हैं, उसी प्रकार बालकन्या भी रागभावसे रहित होनेके कारण लोकमें मंगल मानी गई है । जिसप्रकार जिनेन्द्रदेवने कर्म-शत्रुओं पर विजय पाई, उसी प्रकार उत्तम जातिके घोड़ेसे भी शत्रु जीते जाते हैं, अतएव उत्तम जातिका घोड़ा मंगलरूप माना गया है ॥ १३ ॥

१. वयणियमसंजमगुणेहि साहिदो जिणवरेहि परमट्ठो । सिद्धा सण्णा जेसि सिद्धत्था मंगलं तेण ॥ पुण्णा मणोरहेहि य केवलणाणेण चावि संपुण्णा । अरहंता इदि लोए सुमंगलं पुण्णकुंभो दु ॥ निग्गमणपवेसम्हि य इह चउवीसं पि वंदणिज्जा ते । वंदणमाले त्ति कया भरहेण य मंगलं तेण ॥ सब्वजणणिव्वुदियरा छत्तायारा जगस्स अरहंता । छत्तायारं सिद्धि त्ति मंगलं तेण छत्तं तं ॥ सेदो वण्णो ज्जाणं लेस्सा य अघाइसेसकम्मं च । अरुहाणं इदि लोए सुमंगलं सेदवण्णो दु ॥ दीसइ लोयालोओ केवलणाणे तहा जिणिदस्स । तह दीसइ मुकुरे बिंबु मंगलं तेण तं मुणह ॥ जह वीयरायसव्वण्हू जिणवरो मंगलं हवइ लोए । ह्यरायबालकण्णा तह मंगलमिदि वियाणाहि ॥ कम्मारि जिणेविणु जिणवरोहि मोक्खु जिणाहि वि जेण । जच्चस्स उ अक्खिल जिणइ मंगलु बुच्चइ तेण ॥ पच्चा. टीका.

लोकोत्तरमङ्गलमपि त्रिविधम् सचित्तमचित्तं मिश्रमिति । सचित्तमहंदादीनाम-
नाद्यनिधनजीवद्रव्यम् । न केवलज्ञानादिमङ्गलपर्यायविशिष्टाहंदादीनाम्, जीवद्रव्यस्यैव
ग्रहणम्, तस्य वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव इति भावनिक्षेपान्तर्भावात् न केवल-
ज्ञानादिपर्यायाणां ग्रहणम्, तेषामपि भावरूपत्वात् । अचित्तमङ्गलं कृत्रिमाकृत्रिम-
चैत्यालयादिः, न तत्स्थप्रतिमाः, तासां' स्थापनान्तर्भावात् । अकृत्रिमाणां कथं
स्थापनाव्यपदेशः ? इति चेन्न, तत्रापि बुद्ध्या प्रतिनिधौ स्थापितमुख्योपलम्भात् ।
यथा अग्निरिव माणवकोऽग्निः । तथा स्थापनेव स्थापनेति तासां तद्व्यपदेशोपपत्तेर्वा ।
तदुभयमपि मिश्रमङ्गलम् ।

लोकोत्तर मंगल भी सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है । अरहंत
आदिका अनादि और अनन्तस्वरूप जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद्रव्यतिरिक्तद्रव्यमंगल
है । यद्वांपर केवलज्ञानादि मंगल-पर्याययुक्त अरहंत आदिकका ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु
उनके सामान्य जीवद्रव्यका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, वर्तमान-पर्यायसहित द्रव्यको भाव
कहा है । इसलिये उसका भावनिक्षेपमें अन्तर्भाव होता है । इसलिये केवलज्ञानादि वर्तमान
पर्यायकी अपेक्षा अरहंतके आत्माकी भावनिक्षेपमें परिगणना होगी । उसकी द्रव्यनिक्षेपमें गणना
नहीं हो सकती है । उसी प्रकार केवलज्ञानादि पर्यायोंका भी इस लोकोत्तर नो-आगमद्रव्यमंगलमें
ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, वे सब पर्यायं भावस्वरूप होनेके कारण उनका भी भावनिक्षेपमें ही
अन्तर्भाव होगा ।

कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद्रव्यतिरिक्तद्रव्य-
मंगल हैं । उन चैत्यालयोंमें स्थित प्रतिमाओंका इस निक्षेपमें ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि,
उनका स्थापना निक्षेपमें अन्तर्भाव होता है ।

शंका— अकृत्रिम प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार कैसे संभव है ?

समाधान— इसप्रकार शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, अकृत्रिम प्रतिमाओंमें
भी बुद्धिद्वारा प्रतिनिधित्व मान लेने पर 'ये जिनेन्द्रदेव हैं' इस प्रकारके मुख्य व्यवहारकी
उपलब्धि होती है । अथवा, अग्नितुल्य बालकको भी जिस प्रकार अग्नि कहा जाता है, उसी प्रकार
कृत्रिम प्रतिमाओंमें की गई स्थापनाके समान यह भी स्थापना है, इसलिये अकृत्रिम जिन
प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार हो सकता है । उक्त दोनों प्रकारके सचित्त और अचित्त
मंगलोंको मिश्र-मंगल कहते हैं ।

गुणपरिणत आसनक्षेत्र, अर्थात् जहां पर योगासन, वीरासन इत्यादि अनेक आसनोंसे
तदनुकूल अनेक प्रकारके योगाभ्यास, जितेन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये गये हों ऐसा क्षेत्र,
परिनिष्क्रमणक्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्तिक्षेत्र और निर्वाणक्षेत्र आदिको क्षेत्रमंगल कहते हैं ।

तत्र क्षेत्रमङ्गलं गुण-परिणतासन-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-क्षेत्रादिः । तस्योदाहरणम्, ऊर्ज्जयन्त-चम्पा-पावा-नगरादिः । अर्धाष्टारत्यादि^१-पंचविशत्युत्तर-पंच-धनुः-शत-प्रमाण-शरीर-स्थित-केवल्याद्यवष्टब्धाकाश-देशा वा, लोकमात्रात्म-प्रदेशलोक-पूरणापूरित-विश्व-लोक-प्रदेशा वा ।

तत्थ काल-मंगलं णाम^२, जम्हि काले केवल-णाणादि-पज्जएहि परिणदो सो कालो^३ पाव-मल-गालणत्तादो मंगलं । तस्योदाहरणम्, परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणदिवसादयः । जिन-महिमा^४-सम्बद्ध-कालोऽपि मङ्गलम् । यथा नन्दीश्वर-दिवसादिः ।

तत्थ भाव-मंगलं णाम, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः । स द्विविधः

आगे उदाहरण देकर इसका खुलासा किया जाता है—

ऊर्ज्जयन्त (गिरनार-पर्वत) चम्पापुर और पावापुर नगर आदि क्षेत्रमंगल हैं । अथवा, साढ़े तीन हाथसे लेकर पांचसौ पच्चीस धनुष तकके शरीरमें स्थित और केवलज्ञाना-दिसे व्याप्त आकाश-प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं । अथवा लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंसे लोक-पूरणसमुद्घातवशमें व्याप्त किये गये समस्त लोकके प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं ।

जिस कालमें जीव केवलज्ञानादि अवस्थाओंको प्राप्त होता है उसे पापरूपी मलका गलानेवाला होनेके कारण कालमंगल कहते हैं । उदाहरणार्थ, दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकी उत्पत्ति और निर्वाण-प्राप्तिके दिवस अर्थात् कालमंगल समझना चाहिये । जिन-महिमासम्बन्धी कालको भी कालमंगल कहते हैं । जैसे, आष्टाल्लिक पर्व आदि ।

वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं । वह आगमभावमंगल और नोआगम-भावमंगलके भेदसे दो प्रकारका है । आगम सिद्धान्तको कहते हैं, इसलिये जो मंगलविषयक शास्त्रका ज्ञाता होते हुए वर्तमानमें उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावमंगल कहते हैं । नो-आगम-भावमंगल, उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकारका है । जो आगमके बिना ही मंगलके अर्थमें उपयुक्त है उसे उपयुक्त नो-आगमभावमंगल कहते हैं और मंगलरूप पर्याय अर्थात्

१. गुणपरिणदासणं परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स । उप्पत्ती इय पट्टदी बहुमेयं खेत्तमंगलयं ॥ एदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयंतत्तपादी । आहुट्ठहत्थपट्टदी पणुवीसम्भहियपणसयघणूणि ॥ देहअवट्ठिदकेवलणाणा-वट्ठद्वयणपदेसो वा । सेठीघणमेत्तअप्पपदेसगदलयंपूरणं पुण्णं ॥ विण्णासं लोयाणं होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं ॥

ति. प. १, २१-२४.

२. ' अर्धाष्ट ' इत्यत्र ' अर्धचतुर्थ ' इति पाठेन भाव्यम् ।

३. जस्सि काले केवलणाणादि मंगलं परिणमदि ॥ परिणिक्कमणं केवलणाणुम्भवणिव्वुदिपवेसादी । पावमलगालणादो पण्णत्तं कालमंगलं एदं ॥ एवं अण्येयभेयं हवेदि तक्कालमंगलं पवरं । जिणमहिमासंबंधं पंदीसरदीवपट्टदीओ ॥ ति. प. १, २४-२६. ४. मु. परिणदो कालो । ५. मु. महिम-

६. मंगलपज्जाएहि उवलक्खियजीवदव्वमेत्तं च । भावं मंगलमेदं पठियउ सत्थादिमज्जयतेसु ॥

ति. प. १, २७.